2310

ग्रन्थ • अध्ययनार्थ हैं

ग्रन्थालय मीमांसा : प्रथम अधिकरण

* * *

डॉ. श्री. रा. रंगनाथन

एम्. ए., डी. लिट्., एल्. टी., एफ्. एल्. ए.

अध्यक्ष, भारतीय ग्रन्थालय संघ

प्राध्यापक, ग्रन्थालय शास्त्र, देहली विश्वविद्यालय

* * *

रूपान्तरकार—शास्त्री मुरारि लाल नागर

साहित्याचार्य, एम्. ए., ग्रन्थालय-शास्त्री

* * *

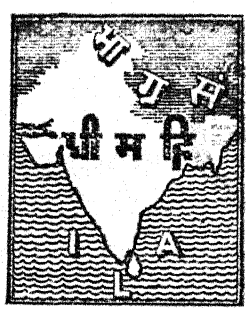

020-H
1
110002

* * *

देहली

भारतीय ग्रन्थालय संघ
हिन्दी ग्रन्थमाला, १

२
भ्र०. १

मू. २ रु.

प्राप्ति स्थान
भारतीय ग्रन्थालय संघ देहली विश्वविद्यालय
देहली ८

यूनिवर्सिटी प्रेस देहली विश्वविद्यालय देहली २

उपोद्घात

भारतीय ग्रन्थालय संघ

हिन्दी ग्रन्थ माला

भारत माता आज एक नवीन युग में प्रवेश कर रही है। उन्नति तथा अवनति के अनेक कल्पों में उसका जीवन बीत चुका है। सर्वान्त्य कल्प का अवनति काल वैधानिक दृष्टि से तो १५ अगस्त १९४७ को समाप्त हुआ; किन्तु यथार्थ रीति से उस दिन मानना चाहिए जब श्री महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रिका से यहाँ पधारे और भारत के भाग्य का निर्माण करने को गृहीतव्रत हुए। उन्होंने हमारे बीच एक पीढ़ी तक जो अद्भुत सेवा-कार्य किया उसके द्वारा भारतीय जनता के हृदयों में देश भक्ति का प्रबल स्रोत प्रवाहित होने लगा। उसी देश भक्ति के भावों से उत्पन्न प्रबल भावना ने परतन्त्रता के पाशों को छिन्न भिन्न कर डाला। हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि वे हमारे साथ कुछ समय तक और रह पाते तो निश्चय ही हमें शुद्ध भावना प्रधान स्तर से ऊपर उठाकर सत्य एवं स्थायी बौद्धिक स्तर तक ले जाते। किन्तु जिस प्रकार श्री रामचन्द्र एवं जनकनन्दिनी के पुण्य-विवाह के दूसरे ही दिन राजर्षि विश्वामित्र सदा के लिए उत्तर की ओर चले गए ठीक उसी प्रकार महात्मा गांधी भी हमें उसी वर्ष के अनन्तर सदा के लिए परित्याग कर चले गए जिस वर्ष भारत का स्वतन्त्रता के साथ गंठबन्धन हुआ। विश्वामित्र यह चाहते थे कि उस काल के अनन्तर श्रीरामचन्द्र की सभी उन्नति एवं अभ्युत्थान स्व-प्रेरित तथा स्व-निर्भर हो। ठीक उसी प्रकार महात्मा गांधी की भी यही इच्छा थी कि उनके द्वारा उपार्जित स्वतन्त्रता का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए भारतीय जन स्वयं उद्योग करें और स्वयं अपनी सहायता से आत्म-सिद्धि प्राप्त करें।

महात्मा गांधी यह कहा करते थे कि स्वतन्त्रता एक साधन-मात्र है; साध्य तो कुछ और ही है। वह साध्य एवं लक्ष्य है—उन्नति की अनन्त परम्पराएं। उन्नति भी एक दो नहीं—शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सभी स्तरों में होनी चाहिए। हमारे भारतवासी इन तीनों दिशाओं में निरन्तर आगे बढ़ते जाएं यही हमारा ध्येय है, यही लक्ष्य है, यही साध्य है। आध्यात्मिक उन्नति जितेन्द्रिय, क्रान्तदर्शी महात्माओं के प्रभाव तथा तेजो-

विकिरण पर निर्भर है। हमारा भारत आज भी इन महात्माओं से सम्पन्न है। किन्तु उस स्तर में आज के हमारे ज्ञान संघटन कुछ भी उपयोग के नहीं हो सकते। शारीरिक क्षेत्र में उन्नति का अर्थ होता है श्रेष्ठ आहार, श्रेष्ठ वसन, श्रेष्ठ आवास, श्रेष्ठ यातायात तथा श्रेष्ठ स्वास्थ्य! जन-वसतियों का दबाव आज जिस उच्च स्तर पर पहुँच गया है उसने प्रकृति की साहजिक उपज को अपर्याप्त सिद्ध कर दिया है। आज मनुष्य जाति के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि प्रकृति को फुसलाकर उससे अधिक उत्पादन करवाए; साक्षात् उपयोग के लिए अक्षम कच्चे मालों को उपयोग्य वस्तुओं के रूप में परिवर्तित करे। इसका अर्थ यह होता है कि मानसिक स्तर सम्बन्धी उन्नति केवल अपने ही दृष्टिकोण से आवश्यक हो यह नहीं, अपि तु इसलिए भी आवश्यक है कि शारीरिक स्तर पर उन्नति संभव हो सके।

भारत आज नव-युग में ऐसे अवसर पर प्रवेश कर रहा है जब यह सिद्धान्त पूर्णतया मान लिया गया है कि मानव-साधनों का प्राग्वर्ती संवर्धन सर्वथा अपरिहार्य है। शब्दान्तरों में यह कहा जा सकता है कि भारत की अभ्युन्नति प्रबलतम कृषि कार्य, औद्योगीकरण, प्रबन्ध सम्बन्धी उन्नति, मौलिक शास्त्रों में प्रगति तथा जनता के निम्नतम व्यक्ति से लेकर उच्चतम व्यक्ति तक भारत माता के सभी सन्तानों का स्थायी स्व-शिक्षण—इन सब वस्तुओं पर अवलम्बित है।

व्यापक एवं स्थायी आत्म-शिक्षण का एकमात्र साधन जो आज हमें ज्ञात है वह केवल सर्वजन ग्रन्थालय सेवा है। उसका सार्वजनीन एवं सर्वव्यापक अभ्युन्नयन भारतवर्ष में हो यही भारतीय ग्रन्थालय संघ का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए संघ जिन प्रणालियों का अवलम्बन करना चाहता है वे अनेक एवं नाना प्रकार की हैं। संघ ग्रन्थालय-विधान-साधन (legislation), ग्रन्थालय-मानवशक्ति (man-power) का उत्पादन, जनता का ग्रन्थालय प्रवणीकरण, ग्रन्थ-अभाव का दूरीकरण, तथा ग्रन्थालय-कला विषयक ग्रन्थों का प्रकाशन इत्यादि अनेक कार्यों को करना चाहता है।

इन प्रणालियों को कार्यान्वित करने लिए संघ अनेक उपायों का आश्रय लेगा। उनमें एक यह है कि विविध प्रकार की ग्रन्थमालाएं प्रकाशित की जाएं। उन ग्रन्थों में कतिपय जनता के लिए, कुछ शासक-वर्ग के लिए तथा अन्य ग्रन्थालय-व्यवसाय के लिए उद्दिष्ट होंगे। वर्तमान में हमारा यह प्रस्ताव है कि एक अंग्रेजी तथा एक हिन्दी ग्रन्थमाला प्रकाशित की जाए।

इनमें से अन्यतर ग्रन्थमाला के लिए ग्रन्थों का अंशदान करने के लिए संघ सुयोग्य ग्रन्थकारों को आमन्त्रित करता है। संघ की यह अभिलाषा है कि अवयवात्मक राज्यों के विभिन्न प्रादेशिक संघ अपने २ प्रदेशों की भाषाओं में इसी प्रकार की ग्रन्थमालाएं प्रवर्तित करें। अपने ग्रन्थों का प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद करने के लिए संघ स्वतन्त्रतापूर्वक अनुमति देगा। संघ का उद्देश्य अर्थ-साधन नहीं है। संघ की केवल यही वाञ्छा है कि भारत यथासंभव शीघ्र ग्रन्थालय सम्बद्ध विषयों में संसार की मानतुलाओं को प्राप्त कर ले। यही एक साधन है जिसके द्वारा भारत उतनी ही शीघ्रता के साथ भौतिक एवं बौद्धिक क्षेत्रों में सर्वाग्रगामी देशों तक का सहगामी बन सकेगा। संघ की यह इच्छा है कि हमारे देश का ग्रन्थालय-व्यवसाय सचेष्ट होकर कार्य करे एवं चिन्तन मनन करे, जिससे भारतवर्ष संसार के ग्रन्थालय साहित्य में अपना अंशदान कर सके। परम पिता परमात्मा से हमारी यह शुभ प्रार्थना है कि उसके कृपाकटाक्ष द्वारा ग्रन्थालय संघ की हिन्दी एवं अंग्रेजी ग्रन्थमालाएं इस उद्देश्य की सिद्धि में सहायता करें।

देहली
१२-४-५०

श्री. रा. रंगनाथन
अध्यक्ष

ग्रन्थालयशास्त्रपञ्चसूत्री

१ ग्रन्थोऽध्येतुम्

२ ग्रन्थो विश्वस्मै

३ प्रतिग्रन्थमध्येता

४ अध्येतृसमयं शेषेत्

५ ग्रन्थालयो वर्द्धिष्णुः

ग्रन्थालयी सदासेवी पञ्चसूत्रीपरायणः ।
ग्रन्था अध्येतुमेते च सर्वेभ्यः स्वं स्वमाप्नुयुः ॥
अध्येतुः समयं शेषेदालयो नित्यमेव च ।
वर्द्धिष्णुरेष चिन्मूर्तिः पञ्चसूत्री जयत्यसौ ॥

१ ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं

२ ग्रन्थ सर्वार्थ हैं

३ प्रतिग्रन्थ अध्येता पाए

४ अध्येतृसमय बचे

५ ग्रन्थालय वर्धिष्णु है

रूपान्तरामुख

ग्रन्थालय शास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्यवर डॉ० श्री० रा० रंगनाथन महोदय ने ग्रन्थालय शास्त्र के पांच मौलिक सूत्रों का आविष्कार कर उनकी आधारभित्ति पर ग्रन्थालय शास्त्र का नवनिर्माण किया है। वे इन सूत्रों को भगवान् नारायण का स्वरूप मानते हैं। ग्रन्थालय से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु और क्रिया—ग्रन्थालय जगत् की समस्त सृष्टि—इन्हीं सूत्रों से आविर्भूत होती है, इन्हीं में स्थित रहती है और इन्हीं में विलीन हो जाती है। वे पांच सूत्र ये हैं :—१ ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं, २ ग्रन्थ सर्वार्थ हैं, ३ प्रतिग्रन्थ अध्येता पाए, ४ अध्येतृसमय बचे, और ५ ग्रन्थालय वर्धिष्णु है। इन पांच सूत्रों को *Five laws of library science, 1931* (ग्रन्थालयशास्त्रपञ्चसूत्री) में भली भांति निरूपित किया गया है।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। उसके लिए वयस्क होकर सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होने की अवधि १५ वर्ष स्थिर की गई है। हिन्दी-सेवियों को महान् उत्तरदायित्व निभाना है। हिन्दी सर्वात्मना सशक्त एवं सम्पन्न बने बिना वस्तुतः राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। गत १५० वर्षों में भारतीय विद्वानों ने अधिकतर चिन्तन, मनन एवं लेखन के लिए अंग्रेजी भाषा का ही माध्यम अपनाया है। ग्रन्थालय शास्त्र उसमें अपवाद नहीं है। साथ ही यह भी यथार्थ है कि यद्यपि वह अभी 'सद्योजात' है, तथापि उसमें संप्रति विद्यमान अंग्रेजी साहित्य ही अति विशाल है। हिन्दी भाषा में उस साहित्य के अभाव को दूर करने के लिए तथा हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए भारतीय ग्रन्थालय संघ हिन्दी ग्रन्थमाला प्रकाशित कर रहा है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि ग्रन्थालय शास्त्र प्रथम सूत्र ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में आविर्भूत हो रहा है। अन्य सूत्र भी इसी भाँति पुस्तकाकार में प्रकाशित किए जाएंगे। पांचों सूत्रों के प्रकाशित हो जाने पर उन्हें एक संपुट (ग्रन्थ) के रूप में परिणत किया जा सकेगा।

प्रस्तुत पुस्तक में "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस प्रथम सूत्र का निरूपण किया गया है। प्रथम सूत्र का यह शासनादेश है कि ग्रन्थों का अधिकतम उपयोग हो, केवल सुरक्षा नहीं। ग्रन्थालय सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया

की इसी में उपयोगिता है। ग्रन्थालय में पाठकों को पूर्ण स्वतन्त्रता, पर्याप्त सुविधा तथा प्रभूत सुख दिया जाए। ग्रन्थ उन्मुक्त हों। ग्रन्थालय भवन अध्येताओं के निवास स्थानों के मध्य भाग में—हृदय स्वरूप—हो। ग्रन्थालय अधिकतम समय तक खुला रहे। ग्रन्थालय प्रणिचर सुन्दर, सुविधाजनक एवं सुखद हो। ग्रन्थालय कर्तृगण उदार, स्नेही और जनसेवक हों। वे पर्याप्त विद्वत्ता के साथ साथ व्यावसायिक शिक्षा दीक्षा से सम्पन्न हों। उनकी संस्थिति उच्च एवं माननीय हो। उन्हें प्रभूत वेतन मिले। वे अपने उत्तर-दायित्वों को समझें तथा पाठकों के साथ स्नेहसद्भावपूर्ण व्यवहार करें। वे मानस शास्त्र के निष्णात हों। वे व्यक्तिगत सेवा में तथा समाज सेवा में कुशल हों। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थों का अधिकतम उपयोग ही चरम लक्ष्य है। यदि इनमें से एक भी वस्तु अथवा क्रिया ग्रन्थोपयोग में साधक न हो तो सब व्यर्थ है। "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस मन्त्र का अनुपालन करने में ही सबकी सार्थकता है।

मूलग्रन्थ १९३१ ई. में प्रकाशित हुआ था। उस बीच ग्रन्थालय जगत् ने महती प्रगति कर ली है। मूल में निर्दिष्ट परिगणन (statistics) तथा परिस्थिति-चित्रण कहीं कहीं कालातिक्रान्त हो गए हैं। रूपान्तर का अवलोकन करते हुए इस वस्तु का ध्यान रखना चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक मूलग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर है, अनुवाद नहीं। मूल ग्रन्थ सामान्य जनता की अभिरुचि के लिए लोकप्रिय भाषा में लिखा गया है। रूपान्तर भी उसी दृष्टि से, उसी प्रकार की भाषा में, उसी शैली से किया गया है।

भारतीय जनता ने, भारतीय ग्रन्थालयाधिकारियों ने तथा भारत-भाग्य-विधाताओं ने "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" का अध्ययन कर यदि यह मान लिया कि 'ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं' तो भारतीय ग्रन्थालय संघ अपने प्रयत्न को सफल मानेगा।

देहली
१२-४-५०

मुरारि लाल नागर

॥ श्रीः ॥

ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं

ग्रन्थालय मीमांसा

प्रथम अधिकरण

प्रसिद्धतर शास्त्रों के प्रारम्भिक सूत्रों के समान ग्रन्थालयशास्त्र के प्रथम सूत्र में भी मौलिक तत्त्व अन्तर्निहित है। वास्तव में वह इतना सुविदित है कि संभवतः मानव उसे तुच्छ ही कहने को उद्यत हो। परन्तु यह समस्त प्राथमिक सूत्रों का सर्वानुगामी गुण है। उदाहरणार्थ– उपनिषदों में प्रतिपादित आचारनीति का ही प्रथम नियम लीजिये—सत्यं वद – सच बोलो, अथवा गति सम्बन्धी प्रथम वैज्ञानिक सूत्र को ही लीजिये। ये नियम कितने स्वतः सिद्ध एवं सुविदित हैं!

ग्रन्थालय–शास्त्र का प्रथम सूत्र है "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं"। कोई भी व्यक्ति इस सूत्र की सत्यता में सन्देह नहीं करता। परन्तु व्यवहार में प्रसङ्ग इससे विपरीत है। ग्रन्थालय के अधिकारियों द्वारा इस सूत्र की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता। ग्रन्थालयीय प्रक्रिया के किसी भी स्वरूप के इतिहास को देख लेने पर यह प्रमाणित होगा कि इस परमोपयोगी सूत्र की कितनी खेदजनक उपेक्षा व्यवहार में हो रही है।

सर्व प्रथम यही सोचिये कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में ग्रन्थों को रखने का ढंग क्या था। ग्रन्थों को फलकों के साथ शृंखलाबद्ध रखने की रीति उन दिनों असाधारण न थी। ग्रन्थों के चारों ओर पीतल की पट्टियाँ होती थीं और उनमें कड़ियाँ लगा दी जाती थीं। वे लोहे की शृंखला से बाँध दी जाती थीं जिनका सिरा काष्ठफलकों से बाँध दिया जाता था। इस प्रकार सुबद्ध ग्रन्थ एक फलक से दूसरे पर भी नहीं जा सकते थे—उनकी यात्रा का परिमाण शृंखला की दीर्घता पर सीमित रहता था। अवश्य ही यह प्रथा ग्रन्थों के उपयोग की अपेक्षा सुरक्षा के लिये विशेष हितकर थी। सचमुच, उन दिनों ग्रन्थालय ग्रन्थोपयोग के प्रसारार्थ नहीं समझे जाते थे; वरन् वे ग्रन्थ-रक्षा के संस्थान माने जाते थे।

ग्रन्थरक्षा की इस विस्तृत पद्धति पर मनन करना बड़ा रोचक विषय है। आखिरकार ऐसी सुरक्षा का क्या प्रयोजन हो सकता है? भविष्यत् काल में उपयोग करने की दृष्टि के सिवा ऐसी बन्धनात्मक सुरक्षा से लाभ की कल्पना करना प्रायः दुःसाध्य है। निःसन्देह हमारे बाल-बच्चों की तथा भाविकाल की चिन्ता करना एक दूरदर्शिता है। यह मानवीय निसर्ग का अपरिहेय धर्म है कि हम स्वयं अपनी वस्तु के उपयोग से वञ्चित रहकर भी अपने अनुवंशियों को उसे ज्यों की त्यों दे देना चाहते हैं। परन्तु ऐसी प्रथा के कुछ अवश्यम्भावी परिणाम होते हैं। कारण, जैसी हमारी धारणा हमारे उत्तराधिकारियों को यथावद् वस्तु देने की है वैसी ही यदि उनकी भी हो तो परिणाम यह होगा कि समस्त ग्रन्थगण सदा के लिये शृंखलाबद्ध ही रहेंगे और वे उपयोगार्थ कभी भी उन्मुक्त न हो पायेंगे। इस प्रथा का यह परिणाम सदियों तक ध्यान में न आया और फल यह हुआ कि "ग्रन्थ सुरक्षा के लिए हैं" इस धारणा ने "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस तत्त्व को अपदस्थ कर अपना अधिकार जमा लिया।

ग्रन्थों को इस प्रकार जमा कर रखने की यह धारणा उस समय जागृत हुई जब ग्रन्थ विरल तथा दुष्प्राप्य थे। मुद्रण कला के आविष्कार के पूर्व एक ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने में अनेक वर्ष व्यतीत हो जाते थे। कहा जाता है कि महाभारत की प्रतिलिपि करना एक जीवन भर का कार्य होता था। ऐसी परिस्थिति में 'ग्रन्थ उपयोगार्थ हैं' इस तत्त्व की उपेक्षा करने में उपपत्ति स्फुट थी, और उनका सुरक्षा के लिए आवश्यकता से अधिक यत्न करना भी साहजिक था। परन्तु दुर्दैववशात् यह धारणा काल क्रम से एक नैसर्गिक वृत्ति के रूप में परिणत हो गई। मुद्रणकला के आविष्कार के फल स्वरूप इस स्थिति में तात्त्विक अन्तर हो जाने पर भी सदियों तक यह चिरार्जित वृत्ति अपास्त न की जा सकी। ऐसी अवस्था में समस्त ग्रन्थसंग्रहों को बन्धनमुक्त कर स्वतन्त्रता प्रदान करना सर्व प्रथम कार्य हुआ। तत्पश्चात् ग्रन्थ उन्मुक्त किये गये और वे उपयोग के लिये पाठकों के हस्तगत भी होने लगे। चिरकाल तक ग्रन्थालय के अधिकारी एवं व्यवस्थापकों के हाथ पाठकों द्वारा ग्रन्थोपयोग के सम्बन्ध में अप्रतिरोध अधिकार की उदार मान्यता स्वीकृत न हुई। ग्रन्थों के अप्रतिरोध उपयोग के सम्बन्ध में अनेक प्रतिबन्ध विद्यमान रहे। इधर ही कुछ वर्षों में ऐसे प्रतिबन्धों को हटाने के लिये क्रांतिकारी प्रयत्न किये गये हैं। परन्तु

यह आन्दोलन अद्यावधि सार्वत्रिक नहीं हो पाया है। आज भी कई देश हैं—जिनमें हमारे देश को भी परिगणित होने का पूर्णाधिकार है—जहां ग्रन्थोपयोग सम्बन्धी उक्त आन्दोलन का शायद ही कुछ प्रभाव हुआ हो।

मैंने एक महाविद्यालय के प्राध्यापक के विषय में सुना है जिन्हें अपने विभाग पर अप्रतिहत शासन करते हुए लगभग दो युग बीत चुके थे। वे अपने विषय की ओर इतने संलग्न रहते कि उनकी दृष्टि सीमित बन गई थी और वे प्रायः गम्भीर तथा विचारग्रस्त ही रहा करते थे। स्वल्प विषय भी उनकी दृष्टि में विशाल रूप धारण कर लेता था। फलतः वे अपने दैनन्दिन कार्य की हर वस्तु को स्वयं देखने आया करते थे—यहाँ तक कि द्वार खोलने से लगा कर कूड़े की टोकरी को यथाकाल साफ करने का कार्य भी वे स्वयं करने लगे थे। उन्हें किसी भी वस्तु को अस्थानस्थ देख लेने पर क्रोध आ जाया करता था। उनके सहायक गणों की उन्नति केवल उनकी ही सद्भावना पर निर्भर होती थी। अतः वे उनके क्रोध के भय से ग्रन्थों के उपयोग करने की बुद्धि त्याग देते थे। प्रथम वर्ष के छात्र ही उनकी प्रवृत्ति से प्रायः अनभिज्ञ होते थे और वे ही कभी कभी उनके विभाग से ग्रन्थों को माँग बैठते थे। वे प्रायः उन छात्रों के सामने इस प्रकार की समस्या रख कर उन्हें टाल देते थे—"क्या तुम अध्यापकों के प्रवचन समझे हो? यदि समझे हो तो ये ग्रन्थ तुम्हारे लिये अनावश्यक हैं"—"यदि तुम उन्हें न समझ पाये हो तो इन ग्रन्थों के अवलोकन से भी तुम्हें कुछ लाभ न होगा।" वरिष्ठ कक्षाओं के विद्यार्थी उनके पास कभी नहीं जाते थे; क्योंकि उन्हें इन प्रयासों की व्यर्थता का दुःखद अनुभव पर्याप्त रहता था। परिणाम यह हुआ कि अतिदीर्घ कार्य-काल के अनन्तर जब वे गृहीतावकाश हुए तब उनके उत्तराधिकारी अध्यापक को उन दायग्राप्त ग्रन्थों में से कई के पृष्ठ काटने का भी प्रसङ्ग पड़ा। कुछ ग्रन्थों के साथ तो इतना भी कष्ट न करना पड़ा। कारण वे इतने जीर्ण शीर्ण तथा कालातिक्रांत हो गये थे कि उनके लिये बहिष्करण ही उचित समझा गया। यदि महाविद्यालय की व्यवस्था "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस प्रथम सूत्र का अनुसरण करती तो क्या कभी प्राध्यापकों की ऐसी प्रक्रिया सम्भव थी? कदापि नहीं।

अब मैं आपके सम्मुख दर्शनशास्त्र के एक प्राध्यापक का उदाहरण रखता हूँ। इसके द्वारा ग्रन्थ और उसके उपयोक्ता के मध्य दीवाल खड़ी

करने वाली परम्परागत मनोवृत्ति की असाधारण शक्ति का परिचय मिल जायगा। उक्त महोदय न केवल व्यवसाय में ही प्रत्युत स्वभाव और जीवन-यापन में भी दार्शनिक थे। एक बार उन्हें समाज सेवा की धुन सवार हुई। उन्होंने अपने समीपवर्तियों की विद्वत्ता बढ़ाकर निज संकल्प को पूर्ण करना चाहा। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपनी सम्पत्ति का अधिकांश ग्रन्थ संग्रह में व्यय कर दिया। ग्रन्थों का मनोनुकूल भाण्डार हो जाने पर उनको रखने के लिए एक ग्रन्थालय निर्मित किया गया। अब उन्होंने अपना अधिकांश अवकाश उसी ग्रन्थालय में व्यतीत करना प्रारम्भ किया, जिससे वे स्वतः ही ग्रन्थों को उपयोगार्थ दे सकें। कुछ काल तक यह क्रम चलता रहा। तदनन्तर उस समाज-सेवी को ग्रन्थालय के प्रति जनता की उपेक्षा-बुद्धि देखकर अत्यन्त निराशा हुई। अत एव एक दिन उन्होंने अपने एक ग्रन्थालयी मित्र को अपना ग्रन्थालय दिखाकर उससे परामर्श करना चाहा। ग्रन्थालय के निरीक्षणार्थ जाते समय मार्ग में उस समाज-सेवी दार्शनिक ने अपने अलभ्य ग्रन्थों की भूरि भूरि प्रशंसा की और साथ ही साथ ऐसे अलभ्य ग्रन्थों के प्रति उपेक्षा के कारण समीपवर्त्तियों की अत्यधिक गर्हणा भी की। इसी प्रकार वार्त्तालाप करते करते दोनों उस भव्य ग्रन्थालय में पहुँच गये। वह निर्जन पड़ा था। उन दोनों के वार्त्तालाप से उस परम्परागत मनोवृत्ति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है जो ग्रन्थों को एक मात्र सुरक्षित रखना चाहती है और जिसके कारण एक यथार्थ समाज सेवा की उद्देश्य-पूर्त्ति में बाधा उपस्थित हुई।

ग्रन्थालयी ने पूछा—मित्रवर! तुम्हारे ग्रन्थ हैं कहां?

दार्शनिक—ये दस फलक ग्रन्थों से भरे हैं, महाशय! मैंने ये फलक विशेष कर इन्हीं ग्रंथों को रखने के लिए बनवाए हैं। मैंने प्रत्येक के लिए एक एक शत मुद्रा व्यय की है।

ग्रन्थालयी—किन्तु मित्रवर, आपने इन फलकों के सुन्दर पारदर्शी शीशों पर भद्दे बादामी कागज़ क्यों चिपका रखे हैं?

दार्शनिक—आपको क्या पता कि मुझे प्रेक्षक गण कितना विकल करते हैं! यदि मैं पारदर्शी शीशों पर कागज़ न चिपकाऊँ तो लोग प्रत्येक क्षण ग्रन्थ माँगते ही रहें और इस प्रकार मेरे सारे ग्रन्थ अस्त व्यस्त होते रहें।

बेचारा समाज-सेवी दार्शनिक! आलोचना अनावश्यक है।

आज इस बीसवीं शताब्दी में भी हम लोग उसी परिस्थिति में पड़े हैं। आइए, अमेरिका के ग्रंथालयों की ओर दृष्टि डालें। आज से एक शताब्दी पूर्व, अमेरिका के ग्रन्थालयों में भी इसी प्रकार की मनोवृत्ति थी। इस सम्बन्ध में टी. डब्ल्यू. कॉह महोदय हार्वर्ड विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय की एक मार्मिक कहानी सुनाते हैं।[1] हार्वर्ड विश्वविद्यालय का ग्रन्थालयी एक बार अपने ग्रन्थों की सूची साथ लेकर फलकों का निरीक्षण कर रहा था। सहसा उसकी मुखाकृति खिल उठी और वह हँसता हुआ दिखाई पड़ा। कारण पूछने पर वह बोला, "हमारे ग्रन्थागार में दो ग्रंथों के अतिरिक्त सभी विद्यमान हैं। अगाज़िज़ के पास वे दोनों ग्रन्थ हैं। मैं उन्हें लेने जा रहा हूँ।" ये वाक्य उसने बड़े ही गर्व और आनन्द के साथ कहे।

इसके प्रतिकूल आज का ग्रन्थालयी तब प्रसन्न होता है जब उसके पाठकवृन्द ग्रन्थ की अलमारियाँ निरन्तर रिक्त किए रहते हैं। कारण यह है कि आज के ग्रन्थालय का सिद्धान्त है "ग्रंथ अध्ययन के लिए हैं, न कि एक मात्र रक्षण के लिए"।

आज का ग्रन्थालयी ग्रन्थों के वितरण से व्याकुल नहीं होता। वह तो ग्रंथ राशि को ग्रन्थालयों में उपयोग में न आते देख दुःखी और निराश होता है। वह भी अपने अगाज़िज़ों से मिलने के लिए प्रसन्नमन होकर जाता है। किन्तु वह उपयोग में आने वाले ग्रन्थों को छीनने के हेतु नहीं, प्रत्युत नवीन ग्रंथों को शीघ्रातिशीघ्र वितरण करने के निमित्त उनके पास जाता है।

ग्रन्थों के उपयोग में विविध बाधाओं को उपस्थित करने वाली इस मनोवृत्ति का विनाश, "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस सूत्र के द्वारा क्रमशः इस प्रकार हुआ—बंधन की वे शृंखलाएँ रद्दी लोहे के रूप में बेच दी गईं। साथ ही साथ ग्रन्थों तक पहुँचने के लिए योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन भी किया गया। उन लोगों को ग्रन्थों के उपयोग का अवसर दिया गया जो शुल्क दे सकते थे। तदनन्तर निःशुल्क उपयोग की स्थिति पहुँची। किन्तु ग्रंथों को ग्रंथालय से दूर ले जाने की अनुमति न थी। अब चुने हुए व्यक्तियों को बाहर ले जाने की भी अनुमति मिलने लगी। इसमें भी सुधार हुआ। जो भी शुल्क दे सकते उन्हें ग्रंथ बाहर ले जाने की सुविधा प्रदान की गई। अन्त में ग्रंथालय से सबको ग्रंथ निःशुल्क मिलने लगे,

[1] कॉह (थियोडोर बेसलो): ऑन् युनिवर्सिटी लायब्रेरीज़. पृ० २७०.

यह स्थिति पहुँची। सम्भवतः हमारा देश भी उसी स्तर पर पहुँचने वाला है। किन्तु जहाँ प्रथम सूत्र बहुत पहले ही भली प्रकार मान लिया गया है उन देशों में उन्नति की यही चरम सीमा नहीं है। ऐसे देशों में ऐसी युक्तियाँ कार्य में लाई गई जिन्होंने पुरुषार्थ के अन्य क्षेत्रों में भी सफलता का मुकुट पहनाया।

इसके पश्चात् ग्रन्थालयों की शाखायें बड़े बड़े नगरों में स्थान स्थान पर स्थापित की गईं, जिससे प्रत्येक नागरिक अपने निवास स्थान के समीप ही ग्रन्थालयों और वाचनालयों से लाभ उठा सके। तदुपरान्त नाममात्र के शुल्क पर उन व्यक्तियों को ग्रन्थ वितरित किए गए जो सुविधा-पूर्वक ग्रन्थालयों तक न पहुँच सकते थे। नवीनतम पद्धति यह है कि ग्रन्थों की पेटियाँ निःशुल्क रूप से उन लोगों के पास भेजी जाती हैं जो अपने पार्श्ववर्तियों को वितरण करने का भार अपने ऊपर लेते हैं।

ग्रन्थालय शास्त्र के प्रथम सूत्र के विजय की सीमा कहां तक हो सकती है इसकी भविष्य वाणी करना कठिन है। किन्तु जे. पी. क्विन्सी के कथनानुसार हमें यह प्रलोभन होता है कि हम एक प्रसिद्ध केल्टिक विरुद्धोक्ति का रूपान्तर करें और यह कहें कि सर्वजन ग्रन्थालय उतना ही श्रेष्ठ हो सकता है जितना कि निजी ग्रन्थालय; और सफल उपयोग के लिए तो वह (सर्वजन) निजी ग्रन्थालय की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधाजनक है।[1]

ग्रन्थालय का स्थान-निर्धारण

"ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस सूत्र में ग्रन्थालय के अधिकारियों का कितना विश्वास है इसका पता साधारणतः ग्रन्थालय स्थान के अवलोकन से चल सकता है। एक बार जब मुझे दक्षिण प्रान्त के एक नगर में जाने का अवसर आया तो उस स्थान के गण्य-मान्य नागरिकों ने नगर में एक ग्रन्थालय की स्थापना के संबन्ध में चर्चा करने के लिए मुझे निमन्त्रित किया। चर्चा के प्रारम्भ में ही ग्रन्थालय के लिए स्थान का प्रश्न उपस्थित हुआ। वस्तुतः उनमें से सबने यह सुझाव दिया कि वह स्थान नगर के सीमा-प्रांत पर होना चाहिये। अपने इस सुझाव के पक्ष में जो उन्होंने अनेक हेतु प्रस्तुत किए उनमें से एक यह था कि नगर के बीच में धूल बहुत होती है, अत एव वहां ग्रन्थ अधिक नष्ट होंगे। दूसरी

[1] ज़ान्सो (लौरा० एम्०): लायब्रेरी विदाउट दि वॉल्स. पृ० १६.

उन्हें यह आपत्ति थी कि नगर के बीच में होने से 'सब प्रकार' के लोग ग्रन्थालय में आया करेंगे। उनकी बुद्धि में यह बात न आई कि ग्रन्थालय का काम ही यह है कि वह सब प्रकार के लोगों को आकर्षित करे। यह उचित नहीं कि धूल के भय से ग्रन्थालय को इतना दूर भगा दिया जाए कि वहां तक पहुँचना और उसका उपयोग करना ही लोगों के लिये प्रायः असम्भव हो जाय। इसलिये उनके सुझाव के विपरीत जब मैंने नगर के मध्य में से निकलते हुए राज मार्ग में उसकी स्थापना का प्रस्ताव रखा तो उनके हृदय को बड़ा धक्का लगा। जब मैंने उनके सामने अनेक पाश्चात्य नगरों के उदाहरण रखे और ग्रन्थालय संबन्धी अनेक रोचक बातों को विशद रूप से उन्हें समझाया तब कहीं वे यह मानने को तैयार हुए कि मेरे मत के पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है।

कुछ दिन पूर्व केलेट-हॉल में एक भाषण हुआ था—बसों का प्रयोग शुरू होने से पहले। उसमें एक बुद्धिमान् वक्ता ने विनोदपूर्वक हमारे एक बड़े ग्रन्थालय की स्थापना का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया। उन्होंने कहा, "पहले नगर में एक ऐसा स्थान ढूंढ लो जो ट्राम की लाइन या रेल के स्टेशन से कम से कम एक मील की दूरी पर हो। जिसकी आधे मील की परिधि में रिक्शा-गाड़ी का कोई विराम स्थल न हो और जिसके निकटतम महाविद्यालय या छात्रावास कम से कम तीन मील दूर हो। इस प्रकार का स्थान सारे शहर में, मैं समझता हूँ, एक ही है। इसलिये वही हमारे ग्रन्थालय के निर्माण के लिये चुना गया है।" वे इस प्रकार बोल रहे थे, फिर भी किसी ने असन्तोष प्रकट नहीं किया। क्योंकि उस समय तक 'ग्रन्थालय' नगर का एक आभूषण समझा जाता था, न कि कोई ऐसी संस्था जिसका प्रधान कार्य ग्रन्थों का उपयोग फैलाना हो।

इसके विपरीत, वे सब पाश्चात्य देश जो ग्रन्थालय शास्त्र के प्रथम सूत्र में विश्वास रखते हैं, ग्रन्थालयों के निर्माण के पक्ष में हैं और उन्हें अधिक से अधिक बनवाते हैं—केवल इसलिये कि वे ग्रन्थों के अधिकाधिक उपयोग के लिये उत्सुक हैं, अपने मुख्य ग्रन्थालय को नगर के मध्य में रखते हैं—ऐसे स्थान पर जहां कि नगर के अधिकतर नागरिक किसी न किसी काम से प्रतिदिन आने के लिये बाध्य हों। वहां के ग्रन्थालयों का कार्य नगर में विभिन्न स्थानों पर स्थित वितरण केन्द्र

द्वारा भी होता है। ये केन्द्र इसलिये होते हैं कि स्थान की दूरी ग्रन्थों के उन्मुक्त और पूर्ण उपयोग में बाधक न हो। उदाहरण के लिये, डबलिन के ३,२४,००० जनसमाज के लिये पाँच प्रान्तीय ग्रन्थालय हैं। इसी प्रकार मितव्ययी होते हुए भी ४,२०,००० की जनसंख्या वाला एडिनबरा अब तक ऐसे सात शाखा ग्रन्थालय स्थापित कर चुका है। मेन्चेस्टर में ७,४४,००० नागरिकों के उपयोग के लिए ऐसी तीस शाखायें आवश्यक समझी गईं। बर्मिंघम में जहां ६,१६,००० लोग निवास करते हैं, ऐसे पच्चीस शाखा ग्रन्थालय ग्रन्थों के अपेक्षित प्रसार के लिये पर्याप्त न हुए। टोरंटो ने जिसमें केवल ५,५०,००० लोग रहते हैं अब तक ऐसी पंद्रह शाखायें तो खोल ही दी हैं और वह अभी अधिक खोलने के विचार में है। ऐसे ही क्लीवलेण्ड में जिसकी जनसंख्या केवल ८,००,००० है पच्चीस शाखायें और १०० वितरण केन्द्र ग्रन्थों का प्रसार-कार्य करते हैं और अन्त में शिकागो की ४६ शाखायें और २७५ वितरण केन्द्र ३०,००,००० की जनसंख्या के लिए बहुत ही अपर्याप्त सिद्ध होते हैं।

यदि एक बार "ग्रन्थ उपयोगार्थ हैं" यह सूत्र स्थिर हो जाय और ग्रन्थालय इस सिद्धान्त को अच्छी तरह समझने लग जाएं कि उनकी सत्ता तभी सफल है जब कि उनके ग्रन्थ अधिक से अधिक पढ़ने वालों द्वारा उपयोग में लाए जायें तो ग्रन्थालय के स्थान के सम्बन्ध में कोई मतभेद न रह जायगा। फिर कोई भी ऐसे स्थान को, जैसा कि ऊपर कैलेट-हॉल के वक्ता ने वर्णन किया था, विचार में भी न लायेंगे। एक चतुर दूकानदार, जो अपनी सामग्री को बेचना चाहता है, अपनी दूकान मन्दिर की सन्निधि में रखता है। इसी प्रकार कॉफी-हाउस का मालिक यदि अपना व्यापार बढाना चाहता है तो अपने 'पानगृह' को किसी बड़े छात्रावास के सामने जमाता है। ऐसे ही जो पानवाला दिन भर की बिक्री में अधिक पैसे की इच्छा रखता है वह अपना पट्टा किसी चलते होटल की बगल में सजाता है। इसी प्रकार उस ग्रन्थालय को, जिसे अपने ग्रन्थों के पूरे उपयोग करवाने की फिक्र हो अपनी नींव अपने ग्रन्थ-ग्राहकों के मध्य में गाड़नी चाहिये। दूसरी ओर से देखें तो हम पायेंगे कि किसी लोकप्रिय मन्दिर की सन्निधि दूकान से खाली न होगी और इसी प्रकार सब बड़े और शौकीन छात्रावासों पर प्रायः पानगृह और पान की दूकानों का छत्ता होगा। यही बात ग्रन्थालयों पर भी लागू होती है। जहां कहीं लोग प्रायः जमा होते हों वहीं ग्रन्थालय के लिये

सर्वोत्तम स्थान है। ग्रन्थालय शास्त्र के पहले सूत्र से निकले हुए सिद्धान्त का एक सुन्दर निदर्शन लिस्बन के 'उद्यान-ग्रन्थालय' में मिलता है।[1]

ग्रन्थालय संसार में पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन का एक अपना स्थान है। यह नगर हमारे देश के तिरुपति के समान सात पर्वत-श्रेणियों पर बसा हुआ है। जनसंख्या और विस्तार में यह मदुरा के बराबर है। पुर्तगाल-भाषा में एक लोकोक्ति है—'जिसने लिस्बन न देखा उसने अब तक सुन्दर वस्तु नहीं देखी।'[2] चाहे लिस्बन के संबन्ध में यह उक्ति सत्य हो या न हो, किन्तु अपनी 'गार्डन लायब्रेरी' के कारण, जो वास्तव में एक सुन्दर वस्तु है, लिस्बन अन्य नगरों से बढ गया है।

इसकी एक पहाडी के पक्षभाग में सूर्यालोक से चमकता हुआ एक सार्वजनिक उपवन है। सामने ही टेगस कल कल करती हुई बहती है। उद्यान के बीच में एक संगमरमर का तड़ाग है, जिसके चारों ओर इन्द्रधनुष के समान विभिन्न रंगों के पुष्पों का तुमुल है। यहीं पर बालवृन्द उल्लास के अतिरेक में इधर उधर दौडते हैं और किलकारी मारते हैं।

इसके सिरे पर एक विशाल देवदारु का वृक्ष है, जो अपनी घनी शाखाओं से सूर्य की किरणों और मेघमालाओं का तिरस्कार सा करता है। उसकी घनी छाया में पूर्ण शान्ति विराजती है। यहीं पर मनोहर फलकों में आकर्षक ग्रन्थ होते हैं। चारों ओर कुर्सियों की पंक्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। फरफराते चोगों वाले छात्र, सफेदी से पुते हुए मज़दूर, छोटी छोटी कातर आँखों वाले निपट गँवार, मुँह में चबैना चबाते हुए दफ्तर के बाबू और दूकानदार, सैनिक, छीपी, बिजली सुधारने वाले, मल्लाह और नौकर, कर्मचारी, सब किसी भी बाहरी दिखावे की बाधा के बिना इस अनोखे ग्रन्थालय की सामग्री का उपयोग करते हैं। साथ ही एक मधुर आकृति वाली चतुर ग्रन्थालयिनी अपने मन्दहास की ज्योत्स्ना को एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिखेरती हुई उन्हें सहायता पहुँचाती है।

ऐसे ग्रन्थालय की योजना किसकी कल्पना में आई? यह एक असार्वजनिक (निजी) शिक्षा समिति थी जो 'फ्री युनिवर्सिटी' के नाम से प्रसिद्ध थी। सब श्रेणियों के लोगों में अध्ययन का प्रेम बढ़ाने के लिये 'फ्री

---

[1] विलसन बुलेटीन. संपु. ४. पृ. ६५.

[2] रेक्लस (एलिसी): युनिवर्सल जोग्रॉफी, ई. जी. रेवनस्टीन द्वारा संपा. संपु. १. पृ. ४८४.

युनिवर्सिटी' ने इस 'उद्यानस्थ ग्रन्थालय' की स्थापना की और इसी ने इसके लिये ग्रन्थों और अन्य उपकरणों की योजना की। लिस्बन के गण्यमान्य नागरिकों ने, जो स्वयं भी ग्रन्थालय शास्त्र के प्रथम सूत्र में श्रद्धा रखते थे, इस साहस पूर्ण कार्य का अभिनन्दन किया और ग्रन्थालयी का प्रबन्ध अपनी ओर से कर दिया।

इसमें एक सहस्र से कुछ कम ग्रन्थ हैं। किन्तु समय समय पर इनका परिवर्तन होता रहता है। इनमें से थोड़े २ सब विषयों पर हैं—साहित्यिक, आलोचनात्मक, यात्रा सम्बन्धी, ऐतिहासिक, विद्युद्विषयक, रस-शास्त्र पर, वास्तुकला पर, नौशास्त्र पर, शिल्पादि पर। आने वाले इन ग्रन्थों को बड़े चाव से पढ़ते हैं। यह ग्रंथालय प्रतिदिन प्रातः ११ बजे से सायं ६ बजे तक खुला रहता है। परिगणना से ज्ञात होता है कि पहले ही साल करीब २,५०० अध्येता इस ग्रंथालय से लाभ उठाते रहे। ईश्वर से प्रार्थना है कि इस सार्वजनिक उपवन के पुराण देवदारु की छाया कभी कम न हो और यह चिरकाल तक "ग्रंथ अध्ययनार्थ हैं" इस शुभ सत्य के उपकारी इस परहित–परायण अध्यवसाय पर से अपनी छाया न समेटे।

पाठशालाओं और विद्यालयों में भी जो स्थान ग्रन्थालयों के लिए चुना जाता है उससे प्रकट होता है कि वहां के अधिकारी 'ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं' इस सूत्र में कितना विश्वास रखते हैं। जिस प्रकार इस सूत्र में लोगों का विश्वास बढ़ रहा है और उसका क्रमिक विकास भी हो रहा है, उसी तरह पाठशाला और विद्यालय के ग्रन्थालयों के स्थान और परिमाण के विषय में भी विचारों की उन्नति हो रही है। एक पाठशाला से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। वहां के ग्रन्थालय में सैकड़ों ग्रन्थ ऐसे थे जो कि पाठ्यग्रन्थों के ही नमूने थे और जिन्हें अध्यापकों ने अपने कार्य के उपयुक्त न समझ कर उस पाठशाला के ग्रंथालय को अर्पण कर दिया था। ये कुछ सौ ग्रन्थ ग्रन्थ-फलक (बुक-केस) में बड़ी सावधानी से ताला लगा कर रक्खे गए थे, और उस ग्रन्थ-फलक को भी एक कमरे में ताले द्वारा बंद करके रक्खा गया था। वह कमरा १० वर्ग फुट का था और उसमें एक छोटी खिड़की वायु प्रवेश के लिए रक्खी गई थी। परन्तु दुःख की बात यह थी कि वहां का मुख्याध्यापक एक ऐसे मण्डप (हॉल) में, जो कि उसी कमरे

से निकट था, विद्यार्थियों को शिक्षण व्याख्यान दिया करता था, जिनमें उसके संख्यातीत विशेष व्याख्यान भी होते थे। इस बात ने सब विद्यार्थियों को उस कमरे की ओर जाने से रोक रक्खा था। जो लोग यह जानते हैं कि २५-३० वर्ष पहले मुख्याध्यापक बहुत ही भयानक माने जाते थे, वे जान सकते हैं कि ऐसी शालाओं के ग्रंथालयों में रखे हुए ग्रन्थों की क्या दशा होगी। जो लोग इस बात को नहीं जानते, उन्हें यह बताया जा सकता है कि गली के कोने में एक मुख्याध्यापक का दिखाई पड़ना पाठशाला के लड़कों के लिए, जो कि संगमरमर की पटरी पर सायंकाल के समय खेलते थे, कितना भयानक था। वे अपनी जान बचाने के लिए समीप के रसोई घर के अंधेरे कोने का सहारा लेते थे। वहां उनकी माताएं उनकी डरी हुई आँखों को और उनके तरीकों को देखकर कह उठती थीं, "क्या मुख्याध्यापक मन्दिर में जा रहे हैं?" कोई भी विद्यार्थी उस अंधेरे कोने में से तब तक बाहर आने की हिम्मत नहीं करता था जब तक कि उनमें से सबसे शैतान लड़का चोरी से झांकने का साहस न कर लेता था और हर्षध्वनि से यह न कह देता था कि अब कोई भय नहीं। इस बात से यह सुगमतापूर्वक जाना जा सकता है कि ग्रन्थों के उपयोग का प्रतिषेध करने के लिए शाला के ग्रंथालय का ऐसा स्थान कितना असर रखता होगा। उन दिनों जरूर ही वह पाठशाला इस सूत्र में विश्वास नहीं रखती थी कि 'ग्रंथ अध्ययनार्थ हैं'।

थोड़े ही दिनों का वृत्तान्त है। एक विद्यालय के अध्यक्ष ने एक ग्रन्थालयी को विद्यालय के ग्रन्थालय का निरीक्षण करने के लिए बुलाया और उसमें सुधार के लिए परामर्श देने का आग्रह किया। वह बड़ी प्रसन्नता से वहां गया। उसका बहुत भली भांति स्वागत किया गया और उसे तंग, कुटिल और अंधेरे कमरों में से ले जाया गया, जहां वायु के संचार के लिए भी अच्छे रोशनदान तक न थे। इन कमरों में दीवारों के साथ अलमारियां थीं। जब कि उन कमरों का अंतिम भाग समीप दिखाई दे रहा था, तो ग्रन्थालयी ने विद्यालय के अध्यक्ष से पूछा कि ग्रन्थालय का कमरा कहां है और वहां वे कब चलेंगे। जब उसने जाना कि वे ग्रन्थालय में से ही गुजर रहे हैं, तो उसे बहुत अचम्भा हुआ। उसने सोचा कि क्या वह स्थान

विद्यालय में जलपान के अवकाश के समय, विद्यार्थियों के लिए, आंख मिचौनी खेलने के लिये तो नहीं बनाया गया है? ग्रन्थालयी ने विद्यालयाध्यक्ष से पूछा कि ऐसा बुरा स्थान ग्रन्थालय के लिए क्यों चुना गया। विद्यालयाध्यक्ष ने शीघ्र ही भोला सा उत्तर दिया, "ये कमरे अन्य किसी भी कार्य के लिए उपयुक्त नहीं हैं। अतएव इन्हें इस प्रकार उपयोग में लाया गया है।" यदि विद्यालय के अधिकारी ग्रन्थालय शास्त्र के पहले सूत्र से प्रभावित हुए होते तो क्या ऐसा सहज उत्तर सुनने में आता? जो परिस्थिति ६० या ७० वर्ष पूर्व पाश्चात्य देश के विद्यालयों की थी वह आज हमारे देश के विद्यालयों और महाविद्यालयों की है। ई० सन् १८९४ के मार्च मास में शिकेगो विश्वविद्यालय के प्रथम अध्यक्ष श्री हारपर ने कोलारेडो महाविद्यालय के ग्रन्थालय के उद्घाटन प्रसङ्ग पर कहा था, "लगभग पचीस वर्ष पूर्व, हमारे देश की पुरातन संस्थाओं में भी ग्रन्थालय कोई विस्तृत न थे—ऐसे भी ग्रन्थालय न थे जो अपनी संज्ञा को चरितार्थ कर सकें। मुझे एक विद्यालय की परिस्थिति मालूम है, जिसमें १५० छात्र पढ़ते थे...तथापि एक १०'×१२' आकार के कमरे में स्थित तथाकथित ग्रन्थालय में २५० भी ग्रन्थ न थे। ग्रन्थालय की दिशा एवं स्थान तो ऐसा था जहां पर कि अधिकारी अध्यापक तो कदाचित् चले जाया करते थे। परन्तु छात्र तो कभी नहीं...वह स्थान बिलकुल एक ओर स्थित था।[1] लगभग पूर्व अनुच्छेद में वर्णित विद्यालयाध्यक्ष के ही पूर्वोक्त शब्द ये हैं।

परन्तु ज्यों ही ग्रन्थालय शास्त्र के प्रथम सूत्र ने जनता की मनोवृत्ति पर अधिकार जमा लिया त्यों ही यह स्थिति एकदम बदल गई। आजकल पश्चिम के अनेक विद्यालय यह मानने लगे हैं कि "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" और छात्रों में ग्रन्थोपयोग की प्रवृत्ति को बढ़ाना उनका सर्वप्रथम कर्तव्य है। ऐसे विद्यालयों में आज कल प्रायः सर्वोत्तम कमरा ग्रन्थालय को दिया जाता है। एक ही कमरा नहीं, परन्तु ऐसे अनेक कमरे ग्रन्थालय के लिये वहां दिये जाते हैं।

ग्रन्थालय शास्त्र के प्रथम सूत्र के वर्चस्वी होने के पूर्व, पाश्चात्य देश के एक महाविद्यालय में 'ग्रन्थ बरामदों में, तलघरों में तथा कोणकक्षों में रखे जाते थे। किन्तु अब उसी महाविद्यालय में ग्रन्थालयों का संपूर्ण क्षेत्रफल महाविद्यालय के संपूर्ण क्षेत्रफल का आधा अंश बना दिया गया है। ग्रन्थों

[1] हारपर (विलियम रेनी) : ट्रेन्ड ऑफ हायर एजुकेशन. पृ. १२०–१२१.

के सञ्चयार्थ चयन प्रकोष्ठ, अनुलय ग्रन्थों के अध्ययनार्थ अध्ययन शालाएं, समर्पण के कार्यालय, चिन्तन गोष्ठियों के लिए भवन—वहां सब कुछ है। इस प्रकार वह ग्रन्थालय सारी संस्था की गतिविधि का केन्द्र बन गया है। .....पुरातन अवस्था की अपेक्षा श्रेष्ठ परिवर्तन की कल्पना नहीं की जा सकती। समय निकट है जब छात्र अपनी अध्ययन शाला में स्वल्प कार्य करेगा। किन्तु ग्रन्थों के बीच अधिक समय बितायेगा। जिस तरह किसी विद्वान् के पास सहस्रों ग्रन्थों के होने पर भी उच्चतम कार्य करने के हेतु उसे पुरातन जगत् के महत्तम ग्रन्थालयों में जाना आवश्यक होता है, उसी तरह एक विश्वविद्यालयीय छात्र के पास अपने कक्ष में ही सहस्रों ग्रन्थों के होते हुए भी उसे अपना कार्य संस्था के ग्रन्थालय में ही जाकर करना होगा।.....उसके बैठने का मंच ऐसा होना चाहिये जहां पर एक क्षण में ही, उपयोग की अपेक्षा ग्रन्थों की सुरक्षा का अधिक ध्यान रखने वाले ग्रन्थालयी के हस्तक्षेप के बिना ही दस या बीस हजार ग्रन्थों में से उस ग्रन्थ को पा सके जो कि उसे प्रस्तुत विषय के लिये अपेक्षित हो। विद्यालय का प्रमुख अङ्ग ग्रन्थालय जो आज से पचास वर्ष पूर्व बिल्कुल अज्ञात था, आज संस्था के बौद्धिक व्यापार का केन्द्र हो रहा है और आज से पचास वर्ष आगे चलकर वह विभागान्तर का निगरण कर स्वयं ही संस्था बन बैठेगा।[1]

ग्रन्थालय कार्यकाल

"ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस सूत्र ने ग्रन्थालय के कार्य काल पर कुछ कम प्रभाव नहीं डाला है। प्राचीन समय में ग्रन्थालय बहुधा खुला रहने की अपेक्षा बन्द ही रहता था। कदाचित् ग्रन्थकृमियों के पलायन कराने मात्र या ग्रन्थों की झाड़ पोंछ के लिए ही यह खुलता था, न कि पाठकों के प्रवेशनार्थ अथवा ग्रन्थों के वितरणार्थ। ऑक्सफोर्ड के बॉडलियन ग्रन्थालय के १७३०-४० तक के दशवर्षीय समय में अध्ययन के लिये दिये गये ग्रन्थों की पञ्जिका यह प्रदर्शित करती है कि बहुत कम ही अवसर पर एक दिवस में एक या दो से अधिक ग्रन्थों का वितरण होता था। यह भी कहा जाता है कि कभी कभी एक पूर्ण सप्ताह ग्रन्थ-सँल्लेख के बिना ही बीत जाता था। उस ग्रन्थालय ने १८०६ वर्षीय एक रोचक

[1] हारपर (विलियम रेनी) : ट्रेन्ड ऑफ हायर एजुकेशन. पृ. १२१-१२५.

स्मारक (वस्तु) को सुरक्षित रखा है। ग्रन्थालय को बन्द पाकर निराशा से कुपित एक विद्यार्थी ने ग्रन्थालय के द्वार पर इन शब्दों से युक्त एक कागज़ का टुकड़ा लगा दिया, जिनको ग्रीक सरस्वती ने उसके भावों के शमन के लिये प्रदान किया था:—'ज्ञान की कुन्जी आपने अपहृत की है, आप पर विपत्ति आये। आप स्वयं तो प्रवेश करते ही नहीं हैं, जो प्रवेश चाहते हैं उनको भी आप बाधा पहुँचाते हैं।' सर एलेक्ज़न्डर ग्रान्ट अपनी 'एडिनबरा विश्वविद्यालय की कहानी' में शोक प्रदर्शित करते हैं कि किस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय के घण्टे विद्यार्थियों को ग्रन्थालय के उपयोग की सुविधाओं से वंचित रखते थे। सप्ताह के दो दिवसों में केवल दो ही घण्टों में ग्रन्थ लिये जा सकते थे। कोह के कथनानुसार एमहर्स्ट कालेज का ग्रन्थालय १८२० में सप्ताह में एक बार एक बजे से तीन बजे तक अपराह्ण में खुलता था। प्रिंसटन विश्वविद्यालय के विद्यार्थीगण वहां के ग्रन्थालय का सप्ताह में दो बार केवल एक ही घण्टे तक उपयोग कर सकते थे, जब कि उनके समकालीन मिसूरी के विद्यार्थियों को दो सप्ताह में एक घन्टे के लिये ही अनुमति प्राप्त थी। कोलम्बिया कॉलेज में, जो कि १८५६ में स्थापित हुआ था, कई वर्षपर्यन्त नवीन और प्राथमिक छात्रों को ग्रन्थालय में मास में एक ही बार ग्रन्थों के पृष्ठ भागों के अवलोकन के लिये अनुमति मिलती थी। नीची श्रेणी वालों को एक उपदेशक सप्ताह में एकबार ले जाकर ग्रन्थों के विषय में मौखिक रूप से परिचय करा देता था। किन्तु केवल उच्च श्रेणी वाले ही ग्रंथालय से बुधवार को दोपहर में एक घन्टे ग्रन्थ ले सकते थे।

यदि ग्रन्थालयों के घण्टे पिछली शताब्दी के अन्तिम काल तक 'ग्रन्थालयों के देश' में भी इतना कम महत्त्व रखते थे तो कोई भी उन परिस्थितियों की सुगमता से कल्पना कर सकता है जो वर्तमान में हमारे विद्यालयों और महाविद्यालयों के यत्र तत्र विद्यमान ग्रन्थालयों में वर्तमान हो। एक बड़े महाविद्यालय की परिपाटी उदाहरण स्वरूप है। सिद्धान्त रूप से इसमें प्रति सप्ताह 'दो वितरण-दिवस' नियत हैं। परन्तु 'दिवस' शब्द से किसी रूप में किसी को यह भ्रान्त धारणा न होनी चाहिए कि उसे प्रत्येक सप्ताह के ग्रन्थालयों के घण्टों की संकलित संख्या प्राप्त करने के लिए दो को चौबीस से न सही तो बारह से भी गुणा करना है। कार्य रूप में तो तदधिकारी अध्यापक ने सुगमता से दो

'वितरण दिवसों' को दो चौथाई-घन्टों के अर्थ में लिया था। कोई प्रश्न कर सकता है कि सप्ताह के शेष घन्टों में ग्रन्थालय में क्या होता था ? अच्छा, तो ग्रन्थ तालों युक्त द्वारों के पीछे अन्धकार से परिपूर्ण कक्षों में अपने शाश्वत और अबाधित विश्राम का उपभोग करते थे। हमारे ग्रन्थालयों में से एक (ग्रन्थालय) ने बहुकालपर्यन्त अपने घन्टों पर प्रयोग किया। उसके ग्रन्थों के उपयोग करने योग्य जो पढ़े लिखे मनुष्य निकट रहते थे उनके ऑफिस का समय साप्ताहिक दिवसों में प्रातः ग्यारह बजे से सायंकाल पांच बजे तक होता था। प्रायः शनिवार तथा रविवार उनके अवकाश-दिवस थे। इन दिनों वे प्रातःकाल का समय सामाजिक-भेंट, गृहस्थी सम्बन्धी क्रय और इसी प्रकार के अन्य साप्ताहिक कार्यों में व्यतीत करने के आदी थे। विलम्बित भोजन सुख और मध्यदिवस की झपकी के उपरान्त ही वे अपने आपको अध्ययन के योग्य पाते और केवल अपराह्ण में ही ग्रन्थालय को गम्भीरता से देखने जाते। ग्रन्थालय ने असंख्य प्रयोगों और खोजों के पश्चात् जो घन्टे अन्ततः निर्णय किये वे अपने ग्राहकों की आदतों से बहुत ही अनुचित रीति से संबद्ध हुए। ग्रंथालय ने वास्तव में साप्ताहिक दिवसों में दस बजे सुबह से पांच बजे सायंकाल तक और शनिवार और रविवार को प्रातः सात बजे से सायंकाल दो बजे तक खोलने का निश्चय किया। क्या इससे भी अधिक किसी प्रभावशाली निर्णय की कल्पना उस स्थान पर की जा सकती है जहां ग्रन्थालय सम्बन्धी प्रथम सूत्र लगभग पाखण्ड मात्र था ? एक अन्य स्थान पर जब ग्रन्थालय अधिकारी गण गम्भीरता से ग्रन्थ वितरण सम्बन्धी वृद्धि की मांग को पूर्ण करने के उपायों पर विचार कर रहे थे, तब एक सुप्रसिद्ध डेनियल निर्णय के लिये आया। "आप के यहां किस समय सबसे अधिक भीड़ होती है ?" डेनियल ने प्रश्न किया। किसी ने उत्तर दिया, "सायंकाल चार से पांच के मध्य में। "अच्छा, तो ग्रन्थालय को छः के स्थान पर चार बजे ही बन्द कर दो, यह सब झगड़ों की समाप्ति होगी", समस्या का यह सुलझाव सुनाई पड़ा।

कोई निर्बल सदस्य नम्रता से बड़बड़ाये, "ये ही तो वे घण्टे हैं जिनमें अधिकांश छात्र और अध्यापक ग्रन्थालय का उपयोग कर सकते हैं।"

"अधिक अध्ययन उचित नहीं, जानते हो ?" दृढ़संकल्प-शील डेनियल ने प्रत्युत्तर दिया।

बेचारा प्रथम सूत्र इस प्रकार किसी विमर्श और उत्सव के बिना ही तिरस्कृत हो गया ! परन्तु आप दक्षिण भारत के प्रति अपनी

करुणा न हटाइये। क्योंकि सब देशों और कालों का आप पर समान अधिकार है। इस अर्वाचीन समय में भी दक्षिण भारत ही आपका अनादर कर रहा हो यह नहीं है। पेरिस के ग्रन्थालयाध्यक्ष की हाल ही में उच्चरित शोकयुक्त वाणी का आप स्मरण करें : 'सामान्यतः फ्रांस में पाठशाला का ग्रन्थालय एक बन्द अलमारी ही होता था, जो प्रत्येक पक्ष में या मास में एक बार ही खोला जाता था।'

परन्तु "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस मन्त्र के जादू ने अन्य पाश्चात्य देशों के ग्रन्थालय काल में अद्भुत परिवर्तन कर दिये हैं। यहां तक कि रूढिवादी माध्यमिक काल की अन्धपरम्परा के विवेक शून्य भार से आक्रान्त बॉडलियन ने भी प्रकाश सम्बन्धी एक प्राचीन प्रतिबन्ध की शृंखलाओं को छिन्न कर दिया है। उनके कारण अब तक उस ग्रन्थालय को अपने घण्टे उत्तरी भ्रमणशील सूर्य के सहगामी रखने पड़ते थे। चिरकाल से प्रतिषिद्ध विद्युत् प्रकाश अब ग्रन्थालय के समय को न केवल समान ही, वरन् पर्याप्त दीर्घ भी बना रहा है। अन्य ग्रन्थालयों ने तो पहले ही प्रथम सूत्र के शासन के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया था। हाल ही में की गई अमेरिकन ग्रन्थालय संघ की जांच पड़ताल[1] के अनुसार 'वे घन्टे जिनमें ग्रन्थालय प्रति दिन खुले रहते हैं दस से चौदह के बीच होते हैं'। एमहर्स्ट कालेज, जो अस्सी वर्ष पूर्व अपने ग्रन्थालय को सप्ताह में केवल तीन घण्टे खोलता था, अब लगभग सौ घण्टों तक खुला रखता है। वास्तव में इसके दैनिक घण्टे आठ बजे प्रातः काल से साढ़े दस बजे रात्रि तक माने जाते हैं। यही बात कारनेल विश्वविद्यालय की भी है। ऑरेगन विश्वविद्यालय में ग्रन्थालय प्रातः ७–३० पर खुलता है और १० बजे रात बंद होता है। यहां तक कि मद्रास विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय ने वर्ष के प्रत्येक दिवस प्रातः काल ७ और सायंकाल ६ के समय को अपने खुलने और बन्द होने के घण्टे निश्चित किया है। यदि ईश्वरेच्छा हुई तो यह शीघ्र ही पाश्चात्य विश्वविद्यालयों के साथ रात्रिजागरण में प्रतिस्पर्द्धा करने लगे। ग्रन्थालय शास्त्रीय प्रथम सूत्र की अभ्यर्थना का तत्परता पूर्वक उत्तर देने में केवल महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय ही आगे न थे, अपि तु सर्वजन ग्रन्थालय भी कम उत्सुक न थे। उनमें से अधिकांश जो 'ग्रन्थ

[1] अमेरिकन लायब्रेरी असोसिएशन : ए सर्वे ऑफ दि लायब्रेरीज़ इन दि युनाइटेड स्टेट्स. संपु. २. पृ. ९४-९५ एवं १५९-६०.

उपयोग के लिये' रखते हैं नौ बजे प्रातः से नौ बजे रात्रि तक खुले रहते हैं। सेन फ्रैन्सिसको और सियेटल तो दस बजे रात्रि तक कार्य करते हैं।

गणना के और अधिक गुणित करने की आवश्यकता नहीं है। यहां यह साहस के साथ कहा जा सकता है कि यदि हम ग्रन्थालय के खुलने के घण्टों के बारे में कार्य-कारण संबन्ध की दृष्टि से खोज करें तो हम उन परिणामों पर पहुँच जायेंगे जिनका पश्चिम में ग्रन्थालयों के व्यवहार के साथ घना सम्बन्ध है। जिस देश में "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" सूत्र ने लोगों के मन में जड़ जमा ली है वहाँ कोई भी ग्रन्थालय तब तक बंद नहीं हो सकता जब तक अधिकांश जन समाज शयन करने के लिये न चला गया हो और इस तरह ग्रन्थों के उपयोग करने में स्वयं असमर्थ न हो गया हो। साथ ही जनता के सो कर उठ जाने के बाद भी वह बंद रहने नहीं दिया जा सकता है। साल के किसी भी दिन, ईसाई देशों में भी, इतवार को भी, कोई भी ग्रन्थालय नहीं बंद किया जा सकता। जनता ग्रन्थालय का अधिक समय तक उपयोग करना चाहती है और ग्रन्थालय के अधिकारी-वर्ग उनकी इस इच्छा के औचित्य का मान करते हैं। निश्चय ही किसी भी ऐसे समय, जब लोग सौकर्य के साथ ग्रन्थालय का उपयोग कर सकते हों, उसे बंद कर देना महान् अपराध है। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि सब दिन लम्बे घण्टों तक ग्रन्थालय खुला रखा जाए तो संस्थापन के व्यय के बारे में क्या होगा? इसके उत्तर में इतना ही कह देना उचित है कि आज का समाज यह मानता है कि ग्रन्थालय के संस्थापन पर व्यय किया हुआ कोई भी अतिरिक्त धन न्याय्य है और हितकर है। और यह है भी ठीक। क्योंकि आखिर ग्रन्थालय के अधिक उपयोग से समाज को प्राप्त होने वाले उस अतिशय लाभ की तुलना में संस्थापन का यह अतिरिक्त व्यय है ही कितना? ग्रन्थालयों में स्थित ग्रन्थों में कितने अधिक धन का विनियोग किया गया है? संस्थापन पर कुछ थोड़े से पैसों के व्यय का विरोध कर ऐसे अमूल्य कोष के पूर्ण उपयोग को संकुचित करना 'अशर्फी को लुटने देकर कोयले पर मुहर करना' क्या इस कहावत को सिद्ध करना न होगा? बहुत बार और अधिक लाभ के लिये हाथ के द्रव्य को भी लगा देने में ही बुद्धिमत्ता होती है।

किन्तु ग्रन्थालय के समय निर्धारण करने की विजय-पताका युनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन को ही प्राप्त हुई है। सौभाग्य से ऐसी संघटना हुई कि डॉक्टर ई० ए० बेकर ने, जो स्कूल ऑफ लायब्रेरियनशिप के सञ्चालक थे, नवागन्तुकों को जो प्रारम्भिक भाषण दिया उसमें मैं उपस्थित था। अपने उस भाषण में उन्होंने बहुत गर्व के साथ यूनिवर्सिटी कॉलेज का नाम पुरानी रूढियों के ध्वंसक और मार्ग के निर्देशक के रूप में लिया था। इसको सिद्ध करने के लिए उन्होंने कई यथार्थ बातें बताई थीं। किन्तु मुझे याद नहीं कि उन्होंने ग्रन्थालय के घण्टों के सम्बन्ध में महाविद्यालय ने जो सफलता प्राप्त की थी उसका भी उल्लेख किया था या नहीं। संक्षेप में हम इतना ही बता देते हैं कि यूनिवर्सिटी कॉलेज के ग्रन्थालय के घण्टे महाविद्यालय द्वारा बिल्कुल नहीं निश्चित किये जाते। वे पूरी तौर से प्रत्येक छात्र पर छोड़ दिये जाते हैं। बात यह है कि प्रत्येक छात्र को ग्रन्थालय में उसके विभाग की चाबी दे दी जाती है। वह जब चाहे तब, दिन में या रात में, अपनी सुविधानुसार ग्रन्थों का उपयोग करने के लिये स्वतंत्र होता है। बस, ग्रन्थालय के खुलने के संबंध में ये ही अंतिम शब्द हैं। ग्रेट ब्रिटेन के एजुकेशन बोर्ड के अध्यक्ष ने १९२४ में 'पब्लिक लायब्रेरीज़ कमेटी' बैठाई थी। उसने मई १९२७ के अपने अंतिम विवरण में भी इसी आदर्श को पूरी तरह प्रमाणीकृत किया है। उसमें लिखा है, "रात में या दिन में एक भी क्षण ऐसा नहीं है जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सके कि किसी भी नागरिक को उस क्षण में उसके पास अविद्यमान ग्रन्थ के अवलोकन की आवश्यकता न पड़े। ऐसी अवस्था में आदर्श व्यवस्था तो यह होगी कि ग्रन्थालय जनता के लिए सर्वकाल खुले ही रहें।" [1]

ग्रन्थालय प्रणिचर

आइए, अब हम देखें कि "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस सूत्र का ग्रन्थालय प्रणिचर (कुर्सी आदि) पर क्या प्रभाव पड़ता है। हम यह विश्वास पूर्वक कह सकते हैं, "आप अपने ग्रन्थालय प्रणिचर को हमें दिखाएं। हम यह बता देंगे कि आप ग्रन्थालय शास्त्र के प्रथम सूत्र में

[1] 'पब्लिक लायब्रेरीज़ इन इङ्गलैण्ड एण्ड वेल्स' की रिपोर्ट, १९२७, पृ० ७५.

विश्वास करते हैं या नहीं।" सर्व प्रथम यह विचारणीय है। जिन दिनों 'ग्रन्थ सुरक्षार्थ हैं' यह विरोधी मत शासन कर रहा था, उस समय ग्रन्थालय के ग्रन्थ फलक केवल ग्रन्थ सुरक्षा के उद्देश्य से बनाये जाते थे। समस्या यह थी कि अल्पतम द्रव्य लगाकर न्यूनतम स्थान में अधिकतम ग्रन्थों का किस प्रकार समावेश किया जाए। लघुतम स्थान नियम देवी का यह शासनादेश था कि ग्रन्थ-फलकों की ऊँचाई के निर्धारण का प्रश्न छत की ऊँचाई पर छोड़ देना चाहिए। ऊर्ध्वलम्ब स्थान का एक इंच भी व्यर्थ नष्ट न होना चाहिए। अतः प्रत्येक ग्रन्थ फलक सर्वथा तल से शुरू होकर एकदम छत तक जाना चाहिए। इसी प्रकार, लघुतम स्थान नियम देवी का दूसरा यह आदेश था कि समलम्ब स्थान का भी एक इंच तक व्यर्थ न गवाँया जाए। यह आदेश सामान्य आदेश का आनुषङ्गिक फल था। कम से कम जितने स्थान में काम चलाया जा सके उतने में ही काम चलाया जाए। इसकी सिद्धि के लिए यह आवश्यक था कि ग्रन्थ-फलकों का अन्तर्मार्ग सङ्कीर्णतम होना चाहिए। उसके बीच से होकर यदि ग्रन्थालय अनुचर आ जा सके तो बस है। उसकी चौड़ाई १॥ फुट हो तो अच्छा है। यदि उससे काम न चल सके तो २ फुट रख ली जाए। किन्तु उससे अधिक नहीं। इसके अतिरिक्त एक बात और है। अब ग्रन्थ जंजीरों से जकड़े तो होते ही न थे। उनके अभाव में ग्रन्थों की सुरक्षा के लिए यह अनिवार्य था कि प्रत्येक फलक में अधिक न सही तो किवाड़ और ताला कुञ्जी तो होने ही चाहिएं। अल्पतम व्यय नियम देवी यह चाहती थी कि अध्ययन-प्रकोष्ठ का प्रणिधर यथा-संभव सादा और सस्ता हो। पाठक को आराम की आशा करने का कोई अधिकार नहीं। अध्ययन प्रकोष्ठ में और किसी सजावट की आवश्यकता नहीं है। प्रकोष्ठ को अधिक आकर्षक बनाने के लिए पर्दों आदि की भी कोई जरूरत नहीं है। ऐसे मनोहारी चित्रों अथवा प्रभावोत्पादक आलेख्यों की भी कोई आवश्यकता नहीं है जिन पर पाठकों की श्रान्त आंखें बीच बीच में पड़ें और अपनी श्रान्ति को दूर कर सकें। किन्तु ग्रन्थालय शास्त्र के प्रथम सूत्र के आविर्भाव ने लघुतम स्थान नियम और अल्पतम व्यय नियम पर एक आनन्दजनक जादू सा डाल दिया है और उसके कारण उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है।

एक संवाद

प्रथम सूत्र : आपके ढंग बड़े असह्य हैं। उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा।

लघुतम स्थान नियम देवी : क्या आप कृपाकर स्पष्ट रूप से उन का निर्देश करेंगे ?

प्र० सू० : आप अपने ग्रन्थ फलकों को ही पहले लें। इन गगन-चुम्बी फलकों के सिरे तक किसे पहुँच सकने की आप आशा करती हैं ?

ल० स्था० नि० : सीढी लगाई जाए !

प्र० सू० : यह कहना बड़ा सरल है। सधे हुए, फुर्तीले ग्रन्थालय अनुचर के लिए यह संभव है, और ठीक भी है। संभवत: आप यह नहीं जानतीं कि अब मैं प्रत्येक पाठक को इस बात की अनुमति देना चाहता हूँ कि वह अपने मन चाहे ग्रन्थ को सीधे फलक से निकाल लाए।

ल० स्था० नि० : यह मेरे लिए बिलकुल नई बात है। मैंने आज तक यह सुना नहीं।

प्र० सू० : अच्छा ! यह बात है·····अब मैं समझा। अस्तु। तो आप यह विश्वास मानिए कि अब प्रत्येक पाठक फलक तक जायगा। अब आप यह कल्पना करें कि कोई मोटा ताजा पाठक जीवन में पहली बार सीढी पर चढ रहा है। उसे अपने ग्रन्थ को पाने की बड़ी उत्कण्ठा, लालसा और उत्साह है। अनुमान कीजिए कि सिरे पर पहुँच कर वह लडखडाता है, धम्म से जमीन पर आ गिरता है और उसकी गर्दन टूट जाती है ! इस नुकसान को कौन पूरा करेगा ? आपकी बहन अल्पतम व्यय नियम देवी इस बारे में क्या कहेंगी ?

अल्पतम व्यय नियम देवी : नि:सन्देह, यह बहुत गम्भीर विषय है। इस पर गहराई से विचार करना आवश्यक है।

ल० स्था० नि० : तब, आपका क्या सुझाव है ?

प्र० सू० : कोई भी ग्रन्थ फलक इतना ऊँचा न होना चाहिए कि उसे सामान्य ऊँचाई का मनुष्य भूमि पर खड़े हुए आसानी से न पा सके।

ल० स्था० नि० : ६॥ या ७ फीट ऊँचा ?

प्र० सू० : प्रशंसनीय विचार है। यही योग्य ऊँचाई है। आप बड़ी समझदार हैं।

ल० स्था० नि० : अच्छा, मैंने इसे मान लिया। और कुछ ?

प्र० सू० : आपके अन्तर्मार्गों की सामान्य चौड़ाई बहुत ही कम है।

ल० स्था० नि० : आप तो यह जानते ही हैं कि इसका निर्धारण उस समय किया गया था जब परिस्थितियाँ कुछ और ही थीं। हमारा उद्देश्य इतना ही था कि केवल एक ग्रन्थालय अनुचर उसके बीच होकर आ जा सके।

प्र० सू० : आशा है, यदि मुझे इस पर हँसी आ जाए तो आप क्षमा करेंगी ! जब तक केवल एक ग्रन्थालय अनुचर ही अन्दर आता जाता था तब तक यह आपके हाथ में था कि आप ग्रन्थालय अधिकारियों को चाहे जैसा पाठ पढ़ातीं। आप उनसे कह सकती थीं कि वे केवल ऐसे अनुचरों की ही भर्ती करें जो दुबले-पतले एकपरिमाणक हों। अन्यथा उनके अन्दर फँस जाने का भय बना रहेगा।

ल० स्था० नि० : नहीं, नहीं, उसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं है। बातों को स्पष्ट करना ही आवश्यक है। पाठकों को फलकों तक प्रवेश देने की अनुमति ही एक अश्रुत नव विचार है। उसी के कारण यह सब अन्तर हो जाता है। किन्तु परिमाण का निर्धारण मेरे अधिकार क्षेत्र में आता है। मुझे इस बात से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है कि मैं अतिशिष्ट समझी जाऊंगी। मेरी समझ से आप पाठकों की एक ऐसी जाति की कल्पना कर रहे हैं जो मेरे तीनों परिमाणों में बुरी तरह फैली हुई होगी। आप ऐसे अन्तर्मार्ग की अपेक्षा रखते होंगे जो उनमें से महत्तम का भी प्रवेश करवा सके।

प्र० सू० : आपकी धारणा प्रायः ठीक है। किन्तु मेरी यही इच्छा है कि अन्तर्मार्ग की चौड़ाई इतनी पर्याप्त हो जिसमें से उस प्रकार के दो व्यक्ति कन्धे से कन्धा मिला कर भली भांति साथ साथ चल सकें।

ल० स्था० नि० : अच्छा ! मैं आपका तात्पर्य समझ गई। ४॥ फीट से ६ फीट तक की चौड़ाई पर्याप्त होगी ?

प्र० सू० : धन्यवाद। ठीक है। एक बात और। यद्यपि वह हमारे प्रस्तुत प्रसङ्ग से पूर्णतया संगत नहीं है। मैं अन्तस्तल से आपका धन्यवाद करता हूं। कारण आपने निःस्वार्थ भाव से ग्रन्थालय अधिकारियों के प्रस्ताव का प्रबल विरोध किया और अपने पक्ष पर दृढता से डटी रहीं।

उनका यह प्रस्ताव था कि कुछ समय के लिए सब क्रय स्थगित कर दिए जाएँ। कारण चयन प्रकोष्ट ग्रन्थों से ठसा-ठस भर गया था और उसमें तिल भर भी स्थान न था।

ल० स्था० नि० : अच्छा,.....

प्र० सू० : आप दोनों बहनें एक दूसरे की ओर देखकर मुस्करा रही हैं। मैं समझता हूँ कि इसमें और भी कुछ रहस्य है।

अ० व्य० नि० : सचमुच ! यह मेरी बहन की बड़ी भारी कृपा थी कि उसने मुझे अवसर दिया और उस सम्बन्ध में मेरा पक्ष ग्रहण किया।

ल० स्था० नि० : उसने मुझे यह बात बता दी कि यदि वह प्रस्ताव मान लिया गया तो तत्काल में ग्रन्थों का क्रय बन्द कर दिया जायगा। फल होगा उसका सर्वनाश। कारण वे ही ग्रन्थ आगे चलकर तो खरीदने ही पड़ेंगे, उस समय उनका दाम दस गुना बढ़ जायगा। प्राचीन ग्रन्थ और विशेष कर शासकीय सामयिक एवं विद्वत् संस्थाओं के अन्य प्रकाशन गवेषणा कार्य के लिए सर्वथा अनिवार्य हैं। किन्तु प्राचीनता के साथ ही साथ उनका मूल्य भी बढ़ता जाता है।

प्र० सू० : कुछ भी हो, मैं आपका ऋणी हूँ। आज के जमाने में कौन ऐसा व्यक्ति है जो इतना अधिक स्वार्थरहित हो जाए और कठिनाई में पड़ी हुई अपनी बहन की भलाई का ध्यान रक्खे ?

ल० स्था० नि० : धन्यवाद। मुझे इस बात की बड़ी खुशी है। हम मित्र-भाव से विदा हो रहे हैं। यद्यपि यह तो आपको मानना ही पड़ेगा कि आरम्भ में आप आग-बबूला हो रहे थे।

प्र० सू० : मुझे खेद है। क्षमा कीजिए। दोष मेरा नहीं है। मेरे लक्ष्य के लिए मेरा जो उत्साह है उसी का यह दोष है। मेरा उद्देश्य व्यक्तिगत आक्षेप न था। इसका मैं परिमार्जन कर दूंगा। आपकी बहन को मैं एक खुशखबरी सुनाना चाहता हूँ।

ल० स्था० नि० और अ० व्य० नि० : वह क्या है ? वह क्या है ?

प्र० सू० : मुझे ग्रन्थ फलकों के लिए किवाड़, ताले और कुञ्जियों की किसी की आवश्यकता नहीं है। आप उन सबके व्यय को बचा सकती हैं.....

अ० व्य० नि० : एक रीति से मुझे खुशी होती है। किन्तु चूहों और गिलहरियों का क्या किया जायगा ? इसके अतिरिक्त एक बात और है। आप कहते हैं कि सब प्रकार के लोग ग्रन्थालय के चयन-प्रकोष्ठ में आया करेंगे। यदि वे खिड़की या झरोखे के रास्ते ग्रन्थों को बाहर फेंकना चाहें तो उन्हें कौन रोक सकेगा ?

प्र० सू० : प्रश्न तो बड़ी समझदारी का है। किन्तु आप उसकी चिन्ता न करें। मैं स्थपति (कारीगर) को यह कह चुका हूँ कि अब वह प्रकोष्ठ को ही कीटागम्य एवं चोरागम्य बनाए।

अ० व्य० नि० : और, वायु-अगम्य भी ! क्या सचमुच ?

प्र० सू० : नहीं, नहीं, यह अनिवार्य नहीं है। किन्तु इसके बदले में मैं एक वस्तु चाहता हूँ। क्या आप अध्ययन-प्रकोष्ठ को मानवागम्य न बनाने की कृपा करेंगी ?

अ० व्य० नि० : मैं आपका आशय भली भांति समझ न सकी।

प्र० सू० : कुर्सियां सुखद एवं शान्तिद बनाई जाएं। टेबल भी पर्याप्त रूप से विस्तृत और सुन्दर हों। साथ ही थोड़े द्रव्य-व्यय की और भी आज्ञा दीजिए जिससे भूमि निःशब्द बनाई जा सके।

अ० व्य० नि० : यह तो कुछ अधिक नहीं है। इसे तो सरलता से किया जा सकता है।

प्र० सू० : मैं आप से यह भी प्रार्थना करूंगा कि आप अध्ययन प्रकोष्ठ को साज सामान से सम्पन्न बना दीजिए। उसकी सज-धज इतनी अच्छी हो कि एक प्रथम श्रेणी की बैठक प्रतीत हो। देखिए न, यह आपका कमरा कितना सुन्दर है ! उसी तरह अध्ययन प्रकोष्ठ में भी सुन्दर पड़दे, पुष्पावलियां, चित्रावलियां, पंखे तथा बिजली के दीपक सब लगे हुए हों। दीपकों का पूरा ध्यान रखिएगा, कारण मेरी यह नीति है कि अध्ययनशील विद्यार्थियों को सूर्यास्त के बाद भी पढ़ने दिया करूं। यदि वे चाहें कि रात्रि को भी अध्ययन किया जाए तो उसमें कोई बाधा न पहुँचानी चाहिए।

अ० व्य० नि० : यह तो अतिसुन्दर विचार है।

प्र० सू० : एक प्रार्थना और है। आप यह न सोचेंगी कि मैं बहुत आगे बढ़ रहा हूँ ऐसा मेरा विश्वास है।

अ० व्य० नि० : इसकी आप चिन्ता न करें। यह अच्छा है कि हम आपकी सब आवश्यकताओं से एक ही साथ परिचित हो जाएं।

प्र० सू० : विश्वसनीय पेय जल की पर्याप्त पूर्ति का प्रबन्ध करें। कुछ शौचालय और स्नानालय भी वहाँ हों। और—मुझे कहते हुए भय लग रहा है—एक जलपान गृह भी स्थापित किया जाए और चलाया जाए।

अ० व्य० नि० : इसमें भय की क्या आवश्यकता है? हम तो केवल विचार विनियम कर रहे हैं। आप निःसङ्कोच रहें।

प्र० सू० : अच्छा, तो मैं यह भी कहूँगा कि एक विश्राम गृह का भी प्रबन्ध किया जाए। उसमें कतिपय सुन्दर एवं सुखद आराम कुर्सियाँ पड़ी हों। जो विद्वान् दिन भर के अध्ययन के लिए ग्रन्थालय में आएं उन्हें वह स्थान क्षण भर के लिए विश्रान्ति सुख दे सकता है। वहाँ वे एक क्षण के लिए अपने शरीर को फैलाकर, आंखें बन्द कर श्रम को दूर कर सकते हैं। हाँ, इस बात का विश्वास रखिए कि इस प्रकार की प्रथम-श्रेणिक सुविधाओं का कोई दुरुपयोग न कर सके इसकी पूर्ण सावधानता रक्खी जाएगी।

अ० व्य० नि० : कितने अद्भुत विचार हैं! सुन्दर, अति सुन्दर! ·····यद्यपि बहुमूल्य हैं। किन्तु·····संभ–वतः·····मित—व्यय—कारी भी—हैं·····

ल० स्था० नि० : व्ययरानी!·····व्ययरानी! आप आंखे बन्द कर क्या चिन्तन कर रही हैं?

अ० व्य० नि० : जी—हां, प्रिये स्थानरानी·····चिन्तन कर रही हूँ·····या ध्यान धर रही हूँ, जो कुछ आप कहें। मैं अभी अभी समय-यन्त्र पर चढ़ गई थी। मैंने भविष्यत् काल के गर्भ में प्रवेश कर देखा। मैंने यह सोचा कि इन सब बातों का अन्त में चलकर स्थायी परिणाम क्या होगा? प्रिये, स्थानरानी, मैंने यह पाया कि ग्रन्थों का श्रेष्ठ उपयोग कराने के लिए आज हमें जो यह अतिरिक्त धन व्यय करना पड़ रहा है वह आगे चलकर—उस अतिदूरस्थ भविष्यत् काल में—कई गुना अधिक श्रेष्ठ फल उत्पन्न करेगा और वास्तविक सुखदायक राष्ट्रिय मितव्ययिता के रूप में परिणत होगा। अवश्य, अब सब कुछ मुझे स्पष्ट ज्ञात हो गया है। श्रीमन् प्रथम सूत्र! क्या मैं ठीक कह रही हूँ?

प्र० सू० : जी हाँ, आपने ठीक कहा है और आपकी उक्ति व्यावहारिक दृष्टि से संगत है।

अ० व्य० नि० : यदि हम संक्षेप का प्रयोग करें तो यह कहना पड़ेगा कि आप ग्रन्थालय को अब ग्रन्थों के जड़ीभूत संग्रह के रूप में नहीं रखना चाहते, अपि तु उसे प्रथम श्रेणि के कारखाने की नाईं सुसज्जित कर चलाना चाहते हैं।

ल० स्था० नि० : व्ययरानी ! आपके इन शब्दों से मुझे लॉर्ड लिटन के शब्दों का स्मरण हो आया है। संभवत: आपको वे शब्द याद होंगे। उन्होंने १८५१ में मांचेस्टर के सर्वजन ग्रन्थालय के उद्घाटन अवसर पर कहा था, "ग्रन्थालय केवल एक विद्यालय ही नहीं है। यह एक शस्त्रागार और अस्त्रागार है। ग्रन्थ शस्त्र हैं। चाहे उनका युद्ध के लिए उपयोग किया जाए, या आत्म रक्षण के लिए"।[1]

अ० व्य० नि० : हाँ, मुझे याद हैं। किन्तु वे शब्द लीग ऑफ् नेशन्स के पूर्वकालिक व्यक्ति के हैं। हमारे मित्र की कुछ और ही इच्छा है। उनकी दृष्टि के अनुसार आज ग्रन्थालय एक विधिवत् शान्तिपूर्ण कारखाना है यह हमें समझ लेना चाहिए। वह स्थान मानव जाति के समस्त दु:ख—दरिद्रों को दूर करने के लिए संजीवनी-बूटी का कार्य करेगा। किन्तु उससे भी बढ़कर एक और उद्देश्य उसके द्वारा पूर्ण किया जाएगा। मेरा अधिक सम्बन्ध उसी से है। ग्रन्थालय के द्वारा स्थानीय प्रबन्ध तथा राज्य प्रबन्ध दोनों में होने वाले सब अपव्यय दूर कर दिए जाएंगे।

ल० स्था० नि० : मैं आपकी भविष्य सम्बन्धी आर्थिक उड़ानों में किसी प्रकार साथ नहीं दे सकती। श्रीमन् प्रथम सूत्र, क्या आप सन्तुष्ट हैं ? हमें तो उसी से प्रयोजन है।

अ० व्य० नि० : मुझे विश्वास है कि वे सन्तुष्ट हैं।

प्र० सू० : कारखाना ! बिलकुल ठीक है। यही यथार्थ शब्द है। आपने मर्म पहचान लिया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अब भविष्य में हम परस्पर सौमनस्य के साथ रहेंगे और मित्रता के साथ समय बिताएंगे। मुझे आपकी सहानुभूति से बड़ी प्रसन्नता है। मैं बिना किसी सङ्कोच के आपसे

---

[1] एड्वर्ड्स् (एड्वर्ड) : फ्री टाउन लायब्रेरीज़, पृ. ७३.

यह कह देना चाहता हूँ कि आप मेरी प्रार्थित वस्तुओं को पूर्ण करने के साथ ही साथ मुझे एक और भी सहायता देते रहें। वह सहायता यह है कि आप निरन्तर मितव्ययिता की दृष्टि रखें तथा जितना भी संभव हो सके उतना बचाएं। इस प्रकार जो कुछ भी बचत होगी वह उन ग्रन्थों के क्रय में लगाई जाएगी जिनके उपयोग के लिए आपको इतना अधिक कष्ट दिया जा रहा है।

अ० व्य० नि० : आप तो एक सच्चे धर्मदूत हैं, मेरा यह विश्वास है। किन्तु, अब हमने परस्पर एक दूसरे को पहचान लिया है। संभवतः अब भ्रान्ति होने का भय नहीं है। क्या मैं एक या दो सुझाव पेश करने की स्वतन्त्रता ले सकती हूँ ?

प्र० सू० : अवश्य, अवश्य ! मैं उनका स्वागत करूंगा।

अ० व्य० नि० : मेरी यह यह धारणा है कि विश्रामगृह, जलपानगृह तथा अध्ययन-प्रकोष्ठ की प्रथम श्रेणी की बैठक जैसी साज-सजावट ये सब चीजें कुछ दिन के लिए स्थगित रखी जा सकती हैं। संभवतः आप इसका अनुमान नहीं लगा सकते कि कुछ स्थानों में इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। आपको यह स्मरण रखना चाहिए कि निकट भविष्य में कुछ वर्षों तक ग्रन्थालय के अधिकारी ऐसे ही लोग होंगे जिन्होंने अपना बाल्य काल ऐसे युग में बिताया होगा जब आपकी कहीं चर्चा तक न थी। यदि आप यह आशा करें कि वे अपने जीवन के इस अन्तिम काल में सहसा ग्रन्थालय के अभ्यासी बन जाएं तो यह दुराशा ही होगी। इन परिस्थितियों में आप यह कैसे आशा करते हैं कि उन पर सहसा लादे हुए इन नवीन विचारों एवं पदार्थों का वे उचित मूल्याङ्कन कर सकेंगे ?

प्र० सू० : यह कठिनाई मुझसे सर्वथा अविदित न थी। सच तो यह है कि आपकी बहन से बातें करते समय इन्हीं बातों का विचार कर मैंने व्याख्यानशाला, प्रदर्शनशाला आदि के लिये स्थान की मांग न की। यद्यपि मैं उनकी चर्चा करना चाहता था, किन्तु मन मार कर रह गया। मैंने यह सोचा कि मैं इस विषय को अपने सहयोगी तृतीय सूत्र के लिए छोड़ दूं तो अच्छा है। कारण वही इस विषय में साक्षात् सम्बन्ध रखता है।

ल० स्था० नि० : मैं यहां बहुत दिनों से रहती आई हूँ। मैं आपको

यह बतला सकती हूँ कि क्या होगा। सारा दोष बेचारे उस ग्रन्थालयी के सिर मढा जाएगा।। अनेक प्रकार के स्वार्थमय उद्देश्य उस पर लादे जाएंगे। उदाहरणार्थ, यह कहा जाएगा कि उसे सस्ती लोकप्रियता की भूख है, इत्यादि, और उस बेचारे का जीवन दूभर हो जाएगा।

अ० व्य० नि० : मेरी बहन ठीक कहती है। दुनिया बड़ी दुरंगी है। मनुष्य समाज में ऐसे लोग भी पाए जाते हैं जिन्हें उनकी स्वार्थ भरी आंखों से चारों ओर स्वार्थ ही स्वार्थ दिखाई पड़ता है। सरल वस्तु भी उन्हें वक्र सी प्रतीति होती है। दोषों को ढूंढना ही एक मात्र उनका कर्तव्य होता है। वे किसी की उन्नति सह नहीं सकते। स्वयं निकम्मे होते हैं, और दूसरों को भी वैसे ही देखना चाहते हैं।

प्र० सू० : मैंने इसकी कल्पना न की थी। जैसा कि आपने कहा, मेरे इस धर्मदौत्य के उत्साह ने तथा इस भावातिरेक ने मुझे इन संसार की व्यावहारिक बातों की ओर अन्धा बना दिया था। ये ही बातें आप के लिए बड़ी ही स्वाभाविक हैं·····आप जो चतुर अर्थशास्त्रिणी ठहरीं····· मुझे ग्रन्थालयी और उसके कर्तृगणों की सदिच्छा की सबसे अधिक आवश्यकता है। उसके बिना मेरा सदुद्देश्य कभी पूर्ण नहीं हो सकता। वस्तुतः वही एक व्यक्ति है जिसकी ओर अब मैं ध्यान देना चाहता था। मैं यह कदापि नहीं चाहता कि बेचारा वह ग्रन्थालयी अपने किसी दोष के बिना ही किसी भी प्रकार अपयश का भागी बने। इसके विपरीत, मेरी तो यह इच्छा है कि वह न केवल मेरे ही साथ सहयोग करे, अपि तु वह ग्रन्थालयाधिकारियों की भी सदिच्छा तथा सहयोग पाए। उसके बिना वह मेरा कोई भी लाभ नहीं पहुँचा सकता। मैं संसार की किसी भी वस्तु के बदले उसके पद की अवमानना नहीं सह सकता। उसका पद दुर्बल हो तो मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।·····इस सच्ची सलाह के लिए धन्यवाद। मैं यह समझता था कि मैं शिक्षा देने के लिए आया हूँ। किन्तु वस्तुतः शिक्षा ग्रहण कर वापस जा रहा हूँ।

अ० व्य० नि० : हमारे विषय में भी यही बात है। बिदाई! मङ्गल हो!

ल० स्था० नि० : ग्रन्थालयी के साथ आपकी शुभ कामना करती हूँ।

प्र० सू० : धन्यवाद। नमस्ते।

ग्रन्थालय कर्तृगण

ग्रन्थालय प्रणिचर की चर्चा समाप्त कर अब हम ग्रन्थालय कर्तृगण के सम्बन्ध में विचार करें। ग्रन्थालय शास्त्रीय प्रथम सूत्र के प्रादुर्भाव ने ग्रन्थालय कर्तृगण पर सर्वाधिक मार्मिक प्रभाव डाला है। इसने कर्तृगण के प्रश्न पर अनेक प्रकारों से परिवर्तन किया है। हम क्रमशः उनमें से प्रत्येक की अधिकतम सावधानता एवं विस्तार के साथ परीक्षा करेंगे। ग्रन्थालय का स्थान, उसके खुले रहने का समय तथा उसका प्रणिचर चाहे जैसा और चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, ग्रन्थों को रखने का ढंग चाहे जैसा भी हो, वस्तुतः यदि देखा जाए तो ग्रन्थालय के बनाने या बिगाड़ने का संपूर्ण उत्तरदायित्व ग्रन्थालय के कर्तृगण पर रहता है। वे ही सर्वस्व हैं। उन्हीं पर सब कुछ अवलम्बित है। गत पचास वर्षों से एक महान् संघर्ष चल रहा है। उसका लक्ष्य यही है कि ग्रन्थालय के कर्तृगण को "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस नई विचार धारा की आवश्यकताओं से समञ्जस कर दिया जाए। यदि केवल 'ग्रन्थालयित्वः विषय पर लिखे गए निबन्धों को ही इस संघर्ष का मानसूत्र मान लिया जाए तो यह प्रमाणित होगा कि यह संघर्ष कितना प्रबल एवं महान् है। श्री केनन्स द्वारा संकलित वाङ्मयसूचि से इस विषय में बड़ा स्पष्ट दिग्दर्शन प्राप्त होता है। अतिसंकुलित अक्षरों में छपे हुए इस ग्रन्थ के कम से कम ५७ पृष्ठ केवल 'कर्तृगण' इस विषय से ही सम्बन्ध रखते हैं। यह भी स्मरणीय है कि यह वाङ्मयसूचि केवल १९२० के अन्त तक ही संकलित है।[1]

जब तक ग्रन्थालयों का केवल यही लक्ष्य होता था कि किसी न किसी प्रकार ग्रन्थों की सुरक्षा ही की जाए, तब तक कर्तृगण के रूप में उन्हें केवल एक ऐसे रखवाले की आवश्यकता थी जो ग्रन्थों की उनके अग्नि, जल, कीट तथा नर पशु इन चार शत्रुओं से रक्षा कर सके। 'येषां क्वापि गतिर्नासीत् तेषां ग्रन्थालयो गतिः!' जिनकी संसार में कोई गति न लग सकती हो, जिन्हें कहीं भी स्थान न मिलता हो, जो सब कामों के लिए निकम्मे ठहरा दिए गए हों उनके लिए एक मात्र आश्रय का स्थान ग्रन्थालय ही माना जाता था। वहीं उनकी जीविका चल सकती थी। कहीं तो ग्रन्थालयों में

---

[1] केनन्स (एच्. जी. टी.): बिब्लिओग्राफी ऑफ लायब्रेरी एकॉनामी, १८७६-१९२०. पृ. २२५-२८२.

बहरे और लंगड़े भर दिए जाते थे, कहीं तुतलाने वाले और कुबड़े; और कहीं होते थे जड़बुद्धि और चिड़चिड़े स्वभाव वाले। मानों ग्रन्थालय अजायब-घर ही हों, जहां हर प्रकार के आश्चर्यमय निकम्मे आदमी बड़े ही काम के होते हों। ग्रन्थालयियों का वाचक एक प्राचीन शब्द है 'कीपर'। पुरातन ग्रन्थालयों के ग्रन्थालयी आज भी उसी नाम से पुकारे जाते हैं। वह शब्द ग्रन्थालय शास्त्रीय प्रथम सूत्र के पूर्व युग का मार्मिक अवशेष है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। बेलियॉल कॉलेज के मास्टर डॉ० ए० डी० लिन्ड्से ने १९२८ के अपने सभापति अभिभाषण में प्लेटो के 'रिपब्लिक' के एक अंश का व्यङ्ग्यानुकार दिया था। वह ग्रन्थालयियों के सम्बन्ध की उपर्युक्त विचार धारा से सर्वथा संगत और समंजस है।

"ग्रन्थों से सम्बद्ध ग्रन्थालयी किन अवसरों पर अन्य की अपेक्षा अधिक लाभदायी साथी हो सकता है?

ग्रन्थों को जमा करने तथा उन्हें सुरक्षित रखने के अवसरों पर।

इस उक्ति का क्या यही तात्पर्य नहीं होता कि 'जब ग्रन्थों को पढ़ने की कोई आवश्यकता न हो, किन्तु उन्हें बिना पढ़े हुए केवल सुरक्षित ही रखना हो?'

जी, हां।

तब यह मानना पड़ेगा कि ग्रन्थों के सम्बन्ध में ग्रन्थालयित्व की उपयोगिता उसी समय है जब ग्रन्थ उपयोग शून्य हों।

मालूम तो ऐसा ही पड़ता है।

मेरे प्रियमित्र, यदि ग्रन्थों के सम्बन्ध में ग्रन्थालयित्व उसी क्षण उपयोगी है जब ग्रन्थ उपयोग शून्य हों तो उसका कोई भी महत्त्व नहीं माना जा सकता।"[1]

वस्तुतः अभी अभी तक—कुछ ही दिनों के पूर्व तक—ग्रन्थालयित्व किसी भी उद्देश्य के लिए किसी भी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था। उसका किसी भी रूप में, किसी भी प्रकार, कोई भी गौरव है इसे लोग मानना ही न सीखे थे।

सचमुच, ग्रन्थालय को चलाने के लिए व्यवसाय निपुण ग्रन्थालयी

---

[1] लायब्रेरी असोसिएशन रेकॉर्ड (न्यू सीरीज़). संपु. ६. पृ. २३७-८.

की भी आवश्यकता पड़ सकती है इसे समझने में भी बड़ा समय लग गया। यदि कहीं ग्रन्थालयी का स्थान होता भी तो लोग यह न समझ पाते कि उस स्थान पर किसे नियुक्त किया जाए। उस स्थान पर कोई आना ही न चाहता था। यदि दुर्भाग्यवश कोई उस स्थान पर आ भी गया तो यह समझना अशक्य था कि उससे क्या काम लिया जाए। युनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन आज ग्रन्थालयित्व की शिक्षा-दीक्षा का महान् केन्द्र माना जाता है। किन्तु उसने भी प्रायः ५० वर्षों तक अपने ग्रन्थालय को एक ऐसे सहायक के भरोसे छोड़ रक्खा था जिसे कभी कभी ग्रन्थालयी की माननीय पदवी तो दे दी जाती थी, किन्तु जिसे प्रति वर्ष ८० पौण्ड से अधिक वेतन न मिलता था। कभी कभी तो उसकी भी आवश्यकता न मानी जाती थी, और ग्रन्थालय के सामान्य भृत्य से ही ग्रन्थालयी का काम निकाल लिया जाता था।[1]

सर एलेक्जेण्डर ग्रान्ट अपने ग्रन्थ 'एडिनबरा युनिवर्सिटी की कहानी' (स्टोरी ऑफ दि युनिवर्सिटी ऑफ एडिनबरा) में लिखते हैं:—"१६३५ और १६६७ के बीच, अधिक नहीं तो एक के बाद एक कर १० ग्रन्थालयी आये। संभवतः उनमें से कोई भी उस नियोग के लिए विशिष्ट प्रवृत्ति नहीं धराता था।" जब अन्ततः उस कॉलेज को एक ऐसा ग्रन्थालयी मिला जो कि टलने का नाम न लेता था तब एक बड़ी भारी समस्या उपस्थित हुई। प्रश्न यह आ पड़ा कि उससे काम क्या लिया जाए? अतः उससे कहा गया कि वह "समावर्तन पञ्जिका (ग्रेजुएशन बुक) का संलेखन करे, जिसमें वर्षों तक उसने पदवीदान विषयक संलेख लिखे"। इस कार्य को करते हुए भी उसका काफी समय खाली रहता था। अतः उसे एक और काम दिया गया। अब "उसे कॉलेज का सेक्रेटरी भी बना दिया गया। यह एक ऐसा पद था जो उसके पश्चात् ग्रन्थालयी के पद से संयुक्त कर दिया गया!" जब तक ग्रन्थ "केवल सुरक्षा के लिए ही थे" तथा लोगों को यह ज्ञात ही न हुआ था कि "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं", तब तक ग्रन्थालयी के समय तथा शक्ति को उपयोग में लाने का अन्य कोई मार्ग ही किस प्रकार निकाला जा सकता था? एडिनबरा अपने ग्रन्थालयी से उसको दी जाने वाली वृत्ति (तनखाह) के बदले में इस प्रकार का सङ्कीर्ण कार्य कराता था। किन्तु यह कोई अनोखी बात न थी। उस युग में यह सर्वथा सामान्य और स्वाभाविक थी। उसका पड़ोसी ग्लासगो भी ऐसा ही करता था। हमें यह ज्ञात होता

[1] बेलॉट (एच. हेब.): युनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन. पृ. ४१८.

है कि ग्लासगो विश्वविद्यालय में १८५८ तक "मेट्रिक्युलेशन (प्रवेशिका परीक्षा) तथा प्रवेशन ग्रन्थालयी के द्वारा कराये जाते थे"।[1]

नई दुनिया की भी हालत इससे अधिक भिन्न न थी। हार्वर्ड अथवा येल में अभी अभी ऐसा अवसर आया है जब ऐसे ग्रन्थालयी को नियुक्त किया गया है जो अपना पूरा पूरा समय ग्रन्थालय की देख भाल में लगाया करे। जब १८२६ में केन्यॉन कॉलेज नामक सनिवास संस्थान स्थापित हुआ तब ग्रन्थालयी का कार्य भार आचार्य (प्रिन्सिपल) की धर्मपत्नी श्रीमती चेज़ पर आ पड़ा। किन्तु उसे केवल ग्रन्थालयी का ही कार्य भार दिया गया हो यह बात न थी। "गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों की प्रमुख देख भाल श्रीमती चेज़ के हिस्से पड़ी थी। वह संस्थान का आय-व्यय लेखा भी रखती थ., तथा ग्रन्थालय की निगरानी भी किया करती थी।"[2]

श्री कॉह के कथनानुसार[3] कुछ ही समय पूर्व ग्रन्थालय एक ऐसा स्थान माना जाता था जहां वृद्ध प्राध्यापक अथवा अयोग्य शिक्षक अर्ध विश्रान्ति के दिन गुजार सकता था। आज भी किसी किसी ग्रन्थालयी से लोग पूछ बैठते हैं कि क्या उसे जीविका का और कोई भी ऐसा मार्ग न मिल सका जिसमें कोई भग्न-हृदय विद्वान् शरण पा सके। जो लोग कभी कभी ग्रन्थालयों में आया जाया करते हैं तथा उस परिचय के कारण यह समझ सकते हैं कि ग्रन्थालय को सुचारु रूप से चलाने के लिए किस प्रकार की विशिष्ट सहायता अपेक्षित है वे भी यह अनुभव नहीं कर पाते कि ग्रन्थालय कार्य के लिए दीक्षा, शक्ति, तत्परता तथा विशिष्ट योग्यता किस प्रकार अनिवार्य है।

विलियम फ्रेडरिक पूल गत शताब्दी के अन्तिम वर्षों में न्यूबेरी में ग्रन्थालयी थे। उन्होंने अपनी मृत्यु से पूर्व कहा था :—"कोई भी विश्व-विद्यालय अब तक उस उच्चतम मानतुला पर नहीं पहुँच सके हैं कि वे वाङ्मयसूचि के अध्यापक को नियुक्त करें। किन्तु वे उस दिशा की ओर अग्रसर

---

[1] मरे (डेविड) : मेमायर्स ऑफ दि ओल्ड कॉलेज ऑफ ग्लासगो. पृ. ५४.

[2] स्मिदी (जार्ज फ्रेंकलिन) : केन्यॉन कॉलेज. पृ. ३६.

[3] तत्रैव. पृ. ४०-४१

हो रहे हैं। १८९४ में प्रेसिडेन्ट हारपर[1] केवल यही आशा कर सकते थे कि "हममें से कुछ लोग वह दिन अवश्य देख सकेंगे जब विश्वविद्यालय के प्रत्येक महाविभाग में वाङ्मयसूचि और रीति शास्त्र (Methodology) के ऐसे प्राध्यापक नियुक्त किए जाएंगे जिनकी अधिक्रिया यह होगी कि लोगों को ग्रन्थों की और उनके उपयोग-प्रकार की शिक्षा दें"। किन्तु उसी विश्व-विद्यालय कुलपति को (प्रेसिडेन्ट) यह विश्वास[2] हो गया था कि "ग्रन्थालय की संभार-सामग्री तब तक पूर्ण न होगी जब तक उसके कर्तृगणों में ऐसे व्यक्ति न होंगे जिनका कार्य ग्रन्थों की देखभाल न होगा, ग्रन्थों का सूची-करण भी न होगा, किन्तु लोगों को यह शिक्षा देना होगा कि ग्रन्थों का उपयोग किस प्रकार किया जाए"।

अपने देश की ओर दृष्टि डालने पर तो हमें चारों ओर निराशा ही निराशा दृष्टिगोचर होती है। हमारे यहां एक भी शिक्षा संस्था ऐसी नहीं है जिसमें श्री हारपर जैसे अध्यक्ष हों। परिस्थिति ऐसी है कि हम उसकी आशा भी नहीं कर सकते। हमारे कई महाविद्यालय ऐसे हैं जो अपने 'वार्षिक कर्तृगण व्योरे' में 'ग्रन्थालयी' की गौरवान्वित उपाधि के नीचे एक स्थान का उल्लेखमात्र कर देते हैं। उस संलेख के आगे जो वेतन निर्दिष्ट किया जाता है वह यह प्रमाणित करता है कि ग्रन्थों का अधिकतम उपयोग कराने में साधक सच्चे ग्रन्थालयी की आवश्यकता का लेशमात्र भी आदर नहीं किया जा रहा है। किन्तु उस ग्रन्थालयी के वास्तविक पद और स्थान का तो केवल वे ही अनुभव कर सकते हैं जिन्हें कुछ समय तक किसी महाविद्यालय में काम करने का अवसर पड़ा हो।

अधिकतर उपाधि महाविद्यालयों में तथाकथित ग्रन्थालयी दीक्षा, स्वभाव तथा पद में बिलकुल क्लार्क ही होता है; इससे कुछ भी ऊँचा नहीं। उसे किसी प्रकार नवप्रवर्तन करने का अवसर नहीं दिया जाता; न वह किसी नवप्रवर्तन करने के योग्य ही होता है। उसका अधिकतर समय इसी में बीतता है कि अनुषवों को (फाइल) संभाल कर रखे और कभी कभी उन्हें दूर के कमरे में बैठे हुए ग्रन्थालय-अधिकारी-प्राध्यापक के पास ले जाए। उनका पद बड़ा ऊँचा होता है और उन्हीं के आगे नाच नाचकर वह अपने

[1] तत्रैव. पृ. १२३.

[2] तत्रैव. पृ. १२४.

पद को स्थायी एवं उन्नतिशील बना सकता है। उसका सब कुछ उन्हीं पर अवलम्बित रहता है। वह उन्हीं के प्रति उत्तरदायी रहता है। उसका सहायक प्रायः एक अनुचर होता है जिसकी शिक्षा सम्बन्धी योग्यता एक चपरासी से कुछ ही ऊँची होती है और जिसका कार्य यही होता है कि सप्ताह के निश्चित घण्टों में घेरे के दूसरी ओर ग्रन्थों को पहुँचाए। अन्य समय या तो उसे ग्रन्थों की झाड़ पोंछ करते रहना पड़ता है या उनकी सजधज को संभाल कर पूर्ववत् कर देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसका और कोई कार्य ही नहीं रहता। ग्रन्थालय के कर्तृगणों में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होता जो कि उस ग्रन्थालय को महाविद्यालय की शिक्षण-धारा से संयुक्त कर सके; महाविद्यालय के द्वारा चलाए जाने वाले पाठ्य क्रम का अनुगमन कराने की तो बात ही और है। वहां कोई भी ऐसा नहीं होता जो कि मांगे जाने पर भी अध्ययन सामग्री ढूंढ निकाले; भविष्य की मांग की आशा में आरम्भ से ही सामग्री को एकत्रित करने की तो बात ही न्यारी है। उस ग्रन्थालय में एक भी कर्ता ऐसा नहीं होता जो सामान्य पाठकों को ग्रन्थालय के ग्रन्थों को उपयोग करने की शिक्षा दे; गवेषकों को मौलिक स्रोत उपयुक्त करने में सहायता देना तो कल्पना के भी बाहर का विषय है।

अधिकारी-प्राध्यापक इन सब कार्यों को करने में समर्थ होते हैं अवश्य, किन्तु बहुत कम। इस प्रकार का कार्य करने वाले प्राध्यापक अपवाद स्वरूप ही होते हैं और उन्हें इस कार्य के लिए जितना सन्मान दिया जाए उतना थोड़ा है। किन्तु वस्तु-स्थिति तो यह होती है कि अधिकारी-प्राध्यापक तो प्राध्यापक ही ठहरा। वह ग्रन्थालयी तो होता ही नहीं। वह तो यही समझ बैठा रहता है कि कार्यालय प्रतियों की स्वीकृति से उसके कर्तव्य का 'अथ' होता है और शुद्ध प्रतियों पर हस्ताक्षर करने में उसकी 'इति' होती है। इसके विपरीत एक बात और ध्यान देने योग्य है। बहुत से प्राध्यापक तो ऐसे स्वार्थी होते हैं कि सब नवीन समागत ग्रन्थों को अपने निजी अधिकार में रख लेते हैं और इस प्रकार अपने शिष्यों को उनसे वञ्चित कर उनकी अपेक्षा अधिक सुविधा उठाते हैं। जो प्राध्यापक इस प्रलोभन के महाजाल में न फँसे उसका धन्यवाद ही करना चाहिए। किन्तु प्राध्यापक ऐसा किए बिना रह नहीं सकते। उन प्राध्यापकों को ग्रन्थालयियों के किस वर्ग में रखना चाहिए इसका सुन्दर निदर्शन हमें बेलियॉल कॉलेज के मास्टर द्वारा प्राप्त होता है। उन्होंने 'रिपब्लिक' के एक दूसरे अंश का व्यङ्ग्यानुकार किया है और

उसमें उन प्राध्यापकों का भली भांति वर्गीकरण किया है। वह अनुकार इस प्रकार है :—

"जो शत्रु के व्यूहों को तथा उनकी गति विधि संघटना के क्रम को चुराने में चतुर हो वही सेना का सर्वश्रेष्ठ रक्षक माना जा सकता है। क्या यह सच नहीं है?

अवश्य है।

तब यह मानना पड़ेगा कि जो किसी वस्तु का चतुर रक्षक हो वह उसी वस्तु का चतुर चोर भी हो सकता है!

यह तो स्पष्ट ही है।

तब यह भी मान लीजिए कि यदि ग्रन्थालयी ग्रन्थों की रक्षा करने में चतुर है तो वह उन्हें चुराने में भी चतुर है!

वाचोयुक्ति का क्रमप्राप्त निष्कर्ष तो यही निकलता है।"

ग्रन्थालय कर्तृगण के सम्बन्ध में माध्यमिक महाविद्यालयों की तो और भी अधिक दयनीय दशा है। बहुधा यह देखा जाता है कि एक नवशिक्षित किशोर, जो विद्यालयीय अन्तिम परीक्षा से सद्यः उत्तीर्ण रहता है, ग्रन्थालयी की गद्दी पर अभिषिक्त कर दिया जाता है। माध्यमिक महाविद्यालयों में बहुधा एक छात्रसंकुल विद्यालय विभाग होता है। यही विभाग प्रधानाध्यापक के लिए शान्ति का साधन बन जाता है। बात यह है कि उस ग्रन्थालयी नामधारी व्यक्ति को देने के लिए कोई कार्य तो होता ही नहीं। फलस्वरूप यदि उसे खाली छोड़ दिया जाए तो वह निरन्तर कुछ न कुछ उत्पात ही मचाता रहेगा। अतः प्रधानाध्यापक उसे उसी विद्यालय विभाग का काम सौंप देता है। उसके कार्य क्या क्या होते हैं? छात्रों की होरोपस्थिति (घण्टे घण्टे पर हाजिरी) सम्बन्धी गणनाओं का एकत्रीकरण, उपस्थिति पञ्जिकाओं में नामावलियों का मासिक लेखन, माध्यमिक विद्यालय विसृष्टि प्रमाण पत्रों की पुस्तिकाओं में संलेखों का सत्रीय संलेखन आदि कार्य नियमित रूप से उसके एकाधिकार का विषय बना दिए जाते हैं। अगर इन कार्यों में भी उसका पूरा समय व्यापृत नहीं हो पाता तो उसे विद्यालय-शुल्क के संग्रह कार्य में गणनाध्यक्ष की सहायता करनी पड़ती है, अथवा लेख्योपकरणों के तथा फार्मों के संग्रह को रखने और चलाने का कष्टपूर्ण भार उठाना पड़ता है।

किन्तु विद्यालय ग्रन्थालयों की सबसे बुरी अवस्था है। उन्होंने तो एक ग्रन्थालय लेखक की भी आवश्यकता का अनुभव नहीं किया है। बहुधा यह देखा जाता है कि यदि सौभाग्यवश कहीं ग्रन्थालय हुआ भी तो उस विद्यालय के ड्रिल मास्टर अथवा ड्राइंग मास्टर को ग्रन्थालय की देख भाल का काम सौंप दिया जाता है। मैं एक स्कूल को जानता हूँ। कर्तृगणों में जो सबसे अधिक बलिष्ठ और क्रूरकर्मा था तथा प्रवेशिका (मैट्रिक्युलेशन) परीक्षा में अनेक असफल प्रयत्नों के करने के कारण जिसे 'मोहंमद ऑफ गजनी' की उपाधि से भूषित किया गया था, उसे उस ग्रन्थालय का रक्षक-दैत्य बना दिया गया था। और वह था सच-मुच बड़ा ही उत्साही रक्षक। जब कभी कोई समुत्सुक बालक साहस एकत्रित कर पाता और उसके पास जाकर 'अतिरिक्त-अध्ययन' के लिए ग्रन्थ मांगता तो शाम का समय रहता था। वह क्रूरकर्मा दैत्य दिन भर के कठोर परिश्रम के कारण थक कर चूर हो गया होता था। कारण वह छः घण्टों तक निरन्तर पढ़ा चुका होता था।

"तुम क्या चाहते हो ?" मोहम्मद ऑफ गजनी ने गरजते हुए पूछा। उसकी अंगारे जैसी आंखें उस बच्चे को जलाए डाल रही थीं।

"पुरुषार्थ के पुतले, महाशय", बच्चे ने लड़खड़ाते हुए उत्तर दिया।

"पिछली तिमाही परीक्षा में तुम्हें कितने अङ्क (मार्क्स) मिले थे ?"

"ब...बया...लीस बटा प...प...पचा...स, महाशय !"

"भाग जा, बदमाश, पाजी, कहीं का ! पहले उन बचे हुए आठ अङ्कों को ला। तब कहीं जाकर अतिरिक्त अध्ययन की बात करना", इस प्रकार तडप के साथ एक ही सांस में बकते हुए उस क्रूरकर्मा दैत्य ने एक घूंसा तान कर उस बेचारे नन्हें से भोले भाले सुकुमार बालक के मुँह पर दे मारा। वह घूंसा उसे वज्र सा लगा। बेचारा बालक अधमरा सा हो गया। कुछ देर के बाद होश संभला तो वह वहां से उठ कर बड़े कष्ट से घर जा सका। क्या वह फिर कभी वहाँ आएगा ? कदापि नहीं, कदापि नहीं।

"ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस सूत्र में यदि विद्यालय को विश्वास होता तो क्या वह ऐसे भयानक राक्षस के भरोसे उस ग्रन्थालय को छोड़ देता ? इसके विपरीत, उसने वह ग्रन्थालय ऐसे सुन्दर बाल-ग्रन्थालयी को सौंपा होता जो इस कला में विशिष्ट रूप से दीक्षित होता। उसका रुख बच्चों के

प्रति सदा स्नेह-सद्भाव से भरा होता। उसके सौजन्य पूर्ण पितृ-वत् व्यवहार से बच्चे उस स्थान पर चुम्बक से खिचे हुए से चले आया करते। वह स्थान आज कल 'विद्यालय का अन्तरात्मा' कहा जाता है। और यह यथार्थ है भी। उस अवस्था में विद्यालय के बच्चों की पूर्वस्मृति कितनी भिन्न और सुखद होती? उदाहरणार्थ, हमारे सिसकते हुए बच्चे के समसामयिक एक नई दुनिया के निवासी के सुन्दर एवं सुखद पूर्वस्मरणों का विचार किया जाए। वह कहता है:—"यह सत्य है कि मेरे जीवन की सर्वश्रेष्ठ अनुप्रेरणा देने का सर्वाधिक श्रेय ग्रन्थालय को है। सब कुछ उसी की देन है। उस ग्रन्थालयी का बुद्धिमत्तापूर्ण भूरी आंखों वाला चेहरा चित्रवत् मेरे हृदय में खिंचा हुआ है। ग्रन्थालय के कमरे की सुगन्धि मेरे नासिकारन्ध्रों में अब तक भरी हुई है। वैयक्तिक दृष्टि से मैं ग्रन्थालय का एक संस्थान के रूप में तथा ग्रन्थालयी का एक वर्ग के रूप में अत्यन्त ऋणी हूँ। वह ऋण इतना अधिक है कि निरन्तर-स्थायी कृतज्ञता के भावों से भी उसके उन्मोचन की आशा नहीं की जा सकती।"[1]

ग्रन्थालय कर्तृगण तथा विद्वत्ता

प्रथम सूत्र ने अनेक लड़ाइयां लड़ीं। लोग यह मानने लग गए कि ग्रन्थालय के लिए पूरे समय तक काम करने वाले विशिष्ट कर्तृगण की आवश्यकता है। किन्तु ग्रन्थालय के अधिकारी चिरकाल तक यह न समझ सके कि यदि ग्रन्थालय शास्त्र प्रथम सूत्र के सब शासनादेशों का अनुपालन करना हो तो ग्रन्थालय के कर्तृगणों में किस प्रकार के गुण तथा कैसी योग्यताएं होनी चाहिएं। प्रथम सूत्र को ग्रन्थालय के योग्य घण्टों को स्थिर करने के लिए पर्याप्त कठिनाइयां उठानी पड़ीं। किन्तु ग्रन्थालयित्व के लिए योग्य मानतुलाओं को स्थापित करने में तो उसे और भी अधिक कष्ट भोगना पड़ा। उसके पूर्ववर्ती "ग्रन्थ सुरक्षार्थ हैं" मत ने अनेक कठोर रूढियों को चला रखा था। उसके चले जाने पर भी वे रूढियां सहसा विलीन न हो सकीं। लोग यह भली भांति जानते हैं कि रूढिवाद किसी भी प्रकार के युक्तिवाद को मानता नहीं। वह बड़ा ही हठी है। वह प्रथम सूत्र की वाचोयुक्तियों को सरलता से सुनना ही नहीं चाहता था। मानने की तो बात ही और है। दृष्टान्त चाहे कितना ही समर्पक हो, किन्तु रूढिवाद उसे मानने के लिए

[1] एडल्ट एजुकेशन एण्ड दि लायब्रेरी. संपु. ३. पृ. ५२

तत्पर नहीं होता। लोग यह सरलता से मान लेते हैं कि अन्न विक्रेता को हर प्रकार के अन्नों के सम्बन्ध में पूरी पूरी जानकारी रखनी चाहिए। एक दर्जी को पोशाकों के बारे में पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए। बीमा कम्पनी का एजेन्ट यदि जीवन-सारिणियों का (लाइफ-टेबल्स) तथा उनके महत्व का पूर्ण ज्ञान न रखे तो वह कदापि सफल नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति जब तक अपने पाठ्य विषय का वेत्ता न हो तब तक उसे अध्यापक का पद कदापि नहीं दिया जा सकता। किन्तु ग्रन्थालयी के सम्बन्ध में इसी बात को समझने के लिए लोगों को चिरकाल लग गया। ग्रन्थालयी अध्ययन एवं अध्यापन से सम्बन्ध रखता है। उसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके योग्यतम ग्रन्थ का वरण करना पड़ता है। यही उसका परम कर्तव्य है। जनसमाज ग्रन्थों में संचित ज्ञान निधि का उपयोग करे और उससे लाभ उठाए इसके लिए उसे मनाना और समझाना भी ग्रन्थालयी के ही अधिकार क्षेत्र में आता है। न केवल श्मश्रुहीन किशोर ही, अपि तु समाज का प्रत्येक घटक जीवनपर्यन्त आत्मशिक्षण के साधन प्राप्त करता रहे इसका उत्तर-दायित्व ग्रन्थालयी पर ही है। इस प्रकार के ग्रन्थालयी को पूर्ण शिक्षित होना चाहिये, उसे अपने ग्रन्थों का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए तथा उसमें व्यापक विद्वत्ता होनी चाहिए इस बात को समझने और मानने में लोगों को बहुत अधिक समय की आवश्यकता पड़ी।

ब्रिटिश लायब्रेरी असोसिएशन के भूतपूर्व मन्त्री श्री फ्रेंक पेसी ने अपने "आरम्भिक दिनों" के विनोद-पूर्ण अतीत चिन्तन में पूर्वकालीन ब्रिटिश ग्रन्थालयियों की विद्वत्ता द्वारा उद्भूत कतिपय मनोरञ्जक अनुभवों की चर्चा की है। "जिस व्यक्ति ने हमें ग्रन्थालय दिखाया वह किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता था।" "वेस्ट मिनिस्टर ग्रन्थालयी चिमनी के चोंगे के समान प्रतीत होता था यही नहीं, अपि तु वह बहरा भी था।"[1]

सौभाग्यवश वे दिन अब 'अतीत के स्वप्न' हो गए हैं। आज पश्चिम में कोई भी व्यक्ति विद्वत् व्यवसायों में ग्रन्थालयित्व के परिगणन के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शङ्का नहीं करता।

---

1 प्रोसीडिंग्स ऑफ दि फिफ्टियेथ कॉन्फरेन्स आफ् दि लायब्रेरी असोसिएशन. पृ. ५७.

किन्तु हमारे देश में अवस्था सर्वथा विपरीत है। आज यहां बहुत ही थोड़े लोग ऐसे मिलेंगे जो ग्रन्थालय में विद्वत्तापूर्ण कर्तृगणों की आवश्यकता का अनुभव करते हों। कुछ ही दिन पूर्व एक ग्रन्थालयी के पास एक उच्च पद धारी शिक्षाधिकारी ने करुणा-पूर्ण सिफारिशी पत्र भेजा था। उसमें यह लिखा था, "पत्रवाहक बहुत ही वृद्ध है। इसे आप देखेंगे ही। वह एस्. एस्. एल्. सी. परीक्षा में एक दर्जन से भी अधिक बार बैठ चुका है। इस जन्म में वह उसे उत्तीर्ण कर सके इसकी कोई आशा नहीं है। वह एक क्लार्क का पद भी किस प्रकार पा सकता है? किन्तु मैं उसमें रस ले रहा हूँ। क्या आप उसे अपने कर्तृगणों में समाविष्ट कर सकते हैं? यही उसके लिए एकमात्र चारा है।" जब एक राजधानी सम्बन्धी ग्रन्थालय की स्थापना की जा रही थी, तब उस ग्रन्थालय की "श्रेष्ठ सेवा" में सर्वप्रथम नियुक्ति जो की गई वह निकटवर्ती कार्यालय के एक चपरासी को मिली। श्रेष्ठ सेवा में पहली नियुक्ति पाने का उसे ही सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसका कारण केवल यही था कि वह सच्चरित भला मानुस था तथा उसकी आय को बढ़ाने का और कोई साधन न था। संभवतः इसका एक पूर्व निदर्शन भी मिल सकता है। बॉडलियन ग्रन्थालय का द्वारपाल १७१२ ई० में उसका उप ग्रन्थालयी बना दिया गया था।[1]

इसी प्रकार जब एक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने अपने यूनियन चेयरमेन को यूनियन ग्रन्थालय के लिए दस रुपये प्रतिमास के भत्ते पर खण्ड-कालीन ग्रन्थालयी को नियुक्त करने की अनुमति दी तो यह कहा जाता है कि उसने वह भत्ता अपने अनुचर को तत्परतापूर्वक दे दिया। कारण यह था कि वह सेवापरायण व्यक्ति था और असूयापूर्वक ग्रन्थालय की रक्षा कर सकता था। यह कहा जाता है कि कुछ ही समय पूर्व एक विद्वान् प्राध्यापक ने यह सिद्धान्त निरूपित किया था: रसायन विक्रेता की दुकान के अनुचर के लिए शिक्षासम्बन्धी जिस योग्यता की आवश्यकता होती है उतनी भी उच्च योग्यता ग्रन्थालय के क्लार्क की होनी आवश्यक नहीं है।

किन्तु इससे भी अधिक मनोरञ्जक अनुमान तो यह है कि ग्रन्थालयी विद्वान् नहीं हो सकता। एक बार उत्तरदेशीय कस्बे के एक उच्च अधिकारी

[1] बिरल (ऑगस्टाइन): कलेक्टेड एसेज़ एण्ड एड्रेसेस. संपु. ३. पृ. २०६.

को कहा गया कि वह एक ग्रन्थालयी का आतिथ्य करे। वह बेचारा अधिकारी बड़े असमञ्जस में पड़ गया। इतना बड़ा अफसर होकर वह ऐसे नीचे व्यक्ति का आदर-सत्कार करे! अहह!! उसे इस कठिन परिस्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए उसका एक कनिष्ठ क्लार्क सामने आया। उस क्लार्क ने यह स्वीकार किया कि वह उस ग्रन्थालयी को अपना अतिथि बना लेगा। किन्तु होनहार कुछ और ही था। उस ग्रन्थालयी को इस व्यवस्था का लेश-मात्र भी ज्ञान न था। वह सीधा उस अधिकारी के घर जा धमका। वहां जा कर उसने अपना कार्ड भेजा। उस पर "एम्. ए." इन उपाधि अक्षरों को देखकर उसकी असमञ्जसता गायब हो गई। उसके स्थान पर अचम्भे ने घर कर लिया। ग्रन्थालयी क्या एम्. ए. भी हो सकता है? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। ऐसा कैसे हो सकता है? अस्तु। वे दोनों मिले। नमस्कार-चमत्कार हुआ। साथ साथ बैठे। पान सुपारी हुआ। अब आश्चर्य ने बिदा ली और उसके स्थान पर करुणा का स्रोत बहने लगा। उस अधिकारी को उस बेचारे ग्रन्थालयी की हीन दशा पर अत्यन्त दया आई। वह विद्वान् अधिकारी समवेदनापूर्ण स्वर में उस 'मास्टर ऑफ् आर्ट्स' से सहानुभूति प्रदर्शन करने लगा। उस अधिकारी को इस बात को बड़ी वेदना थी कि उस एम्. ए. पर विपत्ति के बादल टूट पड़े थे। समय का फेर है। ग्रह दशा के चक्कर से कौन बच सकता है? काल का प्रभाव है! उस एम्. ए. की योग्यता तथा विद्वत्ता वाले व्यक्ति को दुर्भाग्यवश ग्रन्थालय की देख भाल जैसे अधम कार्य को करने के लिए बाध्य होना पड़े, इससे बढ़कर शोक की बात और क्या हो सकती है? इस अधम अवस्था से उत्पन्न करुणा के भाव टिक न सके। उनके स्थान पर न्यायपूर्ण क्रोध आकर विराज गया। कारण यह था। उस अधिकारी को यह ज्ञात हुआ कि उस ग्रन्थालयी का वेतन उसके स्वयं अपने वेतन की अपेक्षा कहीं अधिक था। उसने स्थिर किया कि अधिकारियों ने ग्रन्थालयी के तुच्छ स्थान के लिए देश के एक 'मास्टर ऑफ् आर्ट्स' को ही विनष्ट किया हो यह बात नहीं, अपि तु देश के राजस्व का बहुत बड़ा अंश भी व्यर्थ ही बरबाद किया था। किन्तु, हमारे लिए चिन्ता की बात यह है कि वह विद्वान् अधिकारी अपवाद नहीं, अपि तु उत्सर्ग प्रतीत होता है।

उपरिनिर्दिष्ट विद्वान् अधिकारी ने जिस प्रकार का मत व्यक्त किया वह प्रायः उन लोगों में पाया जाता है जो कदाचित् ही ग्रन्थालय का

उपयोग करते हैं और जिन्होंने कदापि सुपरिचालित आधुनिक ग्रन्थालय के प्रभाव का अनुभव नहीं किया है। किन्तु जो भी व्यक्ति बहुधा एवं गम्भीर रीति से ग्रन्थालय का उपयोग करता है तथा जिसने अपने जीवन में अधिक नहीं तो एक बार भी "किसी विषय का परिचिन्तन किया होता है" वह अवश्य ही ग्रन्थालय के कर्तृगणों में एक ऐसे घटक की आशा करेगा जो "उसकी भाषा बोलता हो" तथा जो उसके विषय की शैली तथा वाङ्मय-सूचि को जानता हो। पाश्चात्य विश्वविद्यालय के एक कुलपति (प्रेसिडेन्ट) ने एक बार कहा था, "ग्रन्थालय का सूत्र संचालक प्रत्येक व्यक्ति अध्यापन कला में निष्णात होना चाहिए। ग्रन्थालयी में प्रशासन सम्बन्धी योग्यता निःसन्देह आवश्यक है, किन्तु यदि उसके साथ व्यापक विद्वत्ता संसृष्ट न हो तो वह (योग्यता) किसी भी प्रकार पर्याप्त नहीं हो सकती"।

प्रश्न यह है कि ग्रन्थालय अपने कर्तृगण के लिये किस प्रकार के विद्वान् को चुने? हास्यपत्रों में विद्वान् उसको बतलाया जाता है जिसमें सामान्य बुद्धि न हो—ऐसे विद्वान् तो नहीं चाहियें। इसमें कोई सन्देह नहीं है। साथ ही वह प्रकृष्ट पाण्डित्य पूर्ण प्रकार का भी न हो, जो भावना-शून्य एवं रहस्यमय रहा करता है। यदि हम कहें कि वह विशेषज्ञ प्रकार का हो, जो "न्यून से न्यूनतर विषय के बारे में अधिक से अधिक ज्ञान संपादन करता है" तो वह भी उचित न होगा। उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है:—ग्रन्थालय को अपने कर्तृगण के लिये ऐसे विद्वानों की आवश्यकता है जो मार्क पेटिसन द्वारा निरूपित विद्वत्ता धराते हों। वह विद्वत्ता है—विवेक, विनय और वैज्ञानिक अभ्यास। उनकी विशेषज्ञता वाङ्मयसूचि होनी चाहिए और उनकी प्रवृत्ति (रुख) विनेय छात्र जैसी होनी चाहिये। ग्रेट ब्रिटेन की "पब्लिक लायब्रेरीज़ कमेटी" के शब्दों में वे ज्ञान जगत् के समस्त क्षेत्रों के पर्याप्त ज्ञाता होने चाहियें। उनके हृदय में उन समस्त क्षेत्रों के प्रति स्नेह सद्भावना भी होनी चाहिये। तभी वे ग्रन्थों के वरण में उन सब के साथ न्यायोचित व्यवहार कर सकेंगे। उन्हें प्रत्येक पाठक को उसके अपेक्षित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उचित मार्ग दर्शन करना होता है। उनका यह भी कर्तव्य है कि पाठक द्वारा अन्विष्यमाण अवगम किस स्थान पर मिल सकता है उसे अत्यन्त स्वल्प समय में अन्तश्चक्षु से ढूंढ निकालें। इन कर्तव्यों का पालन तब तक नहीं हो सकता जब तक उनमें

उपर्युक्त योग्यताएं न हों। ग्रन्थों का प्रयोजन केवल यही नहीं है कि उनमें निहित ज्ञान-रश्मियों का विकिरण किया जाये, अपि तु ज्ञान जगत् की सीमाओं का विस्तारण भी उनका प्रयोजन है। इन दोनों साध्यों की समान रूप से सिद्धि करने के लिये ग्रन्थों का साधन के रूप में किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है, इस कला में निपुण होना ग्रन्थालयी के लिये सर्वथा अनिवार्य है।

इन्हीं कारणों से पश्चिम के ग्रन्थालय विद्यालयों में विश्वविद्यालय उपाधि प्रवेशार्थ अनिवार्य साधारण योग्यता मानी जाती है। विश्वविद्यालय की उपाधि बिना कोई भी व्यक्ति ग्रन्थालय विद्यालय में दीक्षा के लिये प्रवेश नहीं पा सकता। यह तो हुई साधारण ग्रन्थालयों की बात। किन्तु जो प्रवेशार्थी छात्र ग्रन्थालय सेवा में उच्चतम पदों की आकांक्षा रखते हैं उनसे तो विश्वविद्यालय की उच्चतम उपाधियों की आशा की जाती है। अग्रगामी ग्रन्थालयों में आजकल एक नवीन कार्यप्रणाली स्वीकृत की गई है। जो विद्वान् परिपक्व एवं परिपूर्ण व्यावसायिक अनुभव से संपन्न रहते हैं उन्हें खण्डकालीन अनुलय ग्रन्थालयियों के रूप में ग्रन्थालय कर्तृमण्डल में समाकृष्ट किया जाता है। उपर्युक्त कारणों से इस प्रथा की भी संगति लग जाती है। यही वह विचार धारा है जिसको दृष्टिकोण में रखते हुए आरनोल्ड बेनेट ने लिखा था कि यदि ग्रन्थालय "शिक्षित कर्तृगणों पर अधिक व्यय करें और ग्रन्थों पर कम व्यय करें तो आज की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ फल दृष्टिगोचर हों। ग्रन्थालयों में कमी ग्रन्थों की नहीं है। कमी तो है उन ग्रन्थों के सफल उपयोग की कुन्जी की। वह कुञ्जी कौन सी है? ग्रन्थालयियों के एवं कर्तृगणों के व्यक्तित्व तथा योग्यताएं ही वह कुञ्जी है।"

ग्रन्थालय कर्तृगण तथा व्यावसायिक दीक्षा

किन्तु केवल विद्वत्ता से ही कोई ग्रन्थालयी नहीं बन सकता। बहुत लोग यह सोचते हैं कि यतः वे ग्रन्थों को पढ़ सकते हैं, अतः वे ग्रन्थालयी बनने के लिए समर्थ एवं योग्य हैं। इस प्रकार के मतिभ्रम का निदर्शन ऑगस्टाइन बिरल ने मेक् एलिस्टर के वृत्तान्त में भली भांति बतलाया है।[1]

[1] बिरल (ऑगस्टाइन): कलेक्टेड एसेज़ एण्ड बुड्सेस. संपु. ३. पृ. २२७-२२८.

"अभी परसों की ही तो बात है। केले बोट पर एक विश्वविख्यात सैनिक अधिकारी से मेरा परिचय कराया गया। उसने जब यह जाना कि लायब्रेरी असोसिएशन के साथ मेरा कुछ सम्बन्ध है तो अकस्मात् उसने आवेश के साथ चिल्लाकर कहा : "वाह, आप ही जैसे व्यक्ति की तो मैं तलाश में था! मैं अपने प्यारे बुड्ढे एटकिन्स के बारे में न जाने कब से चिन्तित रहता आ रहा हूं। आप उस बुड्ढे को देख ही रहे हैं। वह शरीर को दुहरा किए हुए ध्रुवांकश के पीछे सहारा ले रहा है! बेचारा बुड्ढा भिखारी! अब कोई काम करने के योग्य नहीं रहा; किन्तु कुत्ते जैसा स्वामिभक्त अब भी है। मुझे यह अभी अभी सहसा ख्याल आया कि आप उसे सहारा दे सकते हैं। यदि आप कृपा करके उसे किसी सुखद ग्रामीण ग्रन्थालय में प्रविष्ट करा दें तो मैं आपका अत्यन्त आभारी बनूंगा। उसमें केवल एक ही दोष है। और वह यही है कि वह पढ़ने का बड़ा शौकीन है। अतः ग्रन्थालय ही उसके लिए सर्वोपयुक्त स्थान होगा।"

"साधारण उपाधि धारिणी वही महिला सम्मेलन में भी उपस्थित हो गई। इस बार वह ग्रन्थालयी के स्थान के लिए अपने पुराने रसाइये की सिफारिश कर रही थी। अपनी ओर से वह उसी अद्भुत चरित्र गुण का बखान कर रही थी—उसकी अध्ययन की उत्कण्ठा और प्रवृत्ति।"

इस प्रकार के अज्ञान से संसृष्ट कारुण्य की तुलना निम्ननिर्दिष्ट घटना से ही भली भांति की जा सकती है। एक बार हमारे एक विश्वविद्यालय ने गणित के रीडर (महोपाध्याय) का स्थान विज्ञापित किया। उस स्थान के लिए एक अबोध किशोर ने प्रार्थना पत्र दिया। प्रार्थना पत्र में उसने अपनी योग्यता का उल्लेख करते हुए यह लिखा था कि उसने उसी समय गणित में बी. ए. (पास) उपाधि प्राप्त की थी और वह रीडिंग (अध्ययन) का शौकीन था। इसी योग्यता पर वह उस स्थान के लिए अपना अधिकार समझता था और प्रार्थना पत्र में इसी बात पर उसने जोर दिया था। इस प्रकार की घटना का समन्वय हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। इसी भांति की मूर्खता पर 'चतुर्वेदविन्न्याय' अवलम्बित है। "चारों वेदों को जानने वाले ब्राह्मण को दान देना चाहिये" इस श्रुतिवाक्य को सुन कर किसी अज्ञ ब्राह्मण ने आकर कहा कि, "वेद चार हैं, यह मैं जानता हूं, अतः मुझे ही वह दान मिलना चाहिये!"

इस प्रकार के अज्ञानी लोग ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें करें तो उसमें कोई

आश्चर्य नहीं है। किन्तु उनसे भी बढ़े चढ़े लोग हैं। वे अज्ञ नहीं है, अपि तु वे हैं ज्ञानलव दुर्विदग्ध! थोडा ज्ञान पाकर उनका मतिभ्रम हो गया है। वे यह मानने लग गये हैं कि वे सर्वज्ञ हो गये हैं। उनका धार्ष्ट्य भी उच्च कोटि का है। वे ग्रन्थों को पढ़ने की अपेक्षा कुछ अधिक कार्य भी कर सकते हैं। वे साहित्यिक शैली की समालोचना कर लेते हैं। ज्ञान जगत् के किसी खण्ड विशेष का उन्होंने थोड़ा बहुत परिचय कर लिया होता है। उनकी उस धृष्टता को देख कर और भी अधिक झुंझलाहट होती है। वे यह कल्पना कर बैठते हैं कि उनकी विद्वत्ता से परे ग्रन्थालय में जो कुछ भी है वह सब हस्तकार्य है, लेखकीय (क्लेरिकल) है तथा उनके कार्यों की अपेक्षा अति निम्न कोटि का है। उन्हें इस बात का ज्ञान ही नहीं रहता कि वे स्वयं केवल एक ऐसे उचित उपादान हैं जिनसे ग्रन्थालयियों का निर्माण किया जा सकता है। बहुधा ऐसे अहंमन्य सद्योभिवृद्ध से हमारी मुठभेड हो जाती है। उस पण्डितंमानी की इतनी हिम्मत! वह बक उठता है, "अरे इन्डेक्सिंग (निर्देशीकरण)? उसमें क्या धरा है?" वह प्रयोग तो करता है 'इन्डेक्सिंग' शब्द का, किन्तु उसका तात्पर्य होता है सूचीकरण से। हमारी तो यही इच्छा होती है कि उस व्यक्ति को दो चार मासों तक इन्डेक्सिंग करने का अवसर दिया जाये। उससे कहा जाए कि 'हां भाई, आओ, जरा इन्डेक्सिंग में अपनी बुद्धि का उपयोग तो करो। तुम्हें स्वयं मालूम पड़ जायगा कि तुम कितना अनर्थ एवं अस्तव्यस्तता का जनन कर सकते हो।' ये तो हुए नई पीढ़ी के लोग। दूसरे होते हैं पुराने खूंसट बुड्ढे। वे आदर पाने के आदी रहते हैं। ग्रन्थालयी की शिक्षा-दीक्षा के बारे में उनके विचार कुछ और ही प्रकार के होते हैं। वे कह बैठते हैं, "ग्रन्थों को एक सिरे से दूसरी ओर पहुँचाने के लिये, बन्धन सीमा (घेरे) को डँका कर दूसरी ओर उन्हें देने के लिये भी क्या किसी शिक्षा की आवश्यकता है? वह कौन सी शिक्षा हो सकती है? मेरे जमाने में तो अमुक नाम धारी व्यक्ति उसी कार्य को इतनी प्रशंसनीय रीति से करता था कि कुछ कहा नहीं जा सकता। उसने तो व्यावसायिक शिक्षा दीक्षा के भूत का नाम तक न सुना था"। ऐसे वृद्ध महाशय से यही पूछना चाहिये, "बूढ़े बाबा, आपके जमाने के ग्रन्थालय में फलकों पर कितने कोड़ी ग्रन्थ रहा करते थे? उनमें से कितनों ने आपके दीर्घ जीवन काल भर में अपने फलकों से हटने का नाम तक न लिया था? उनमें से कितनों ने अपने स्थायी स्थान से कसम

खाने के लिए भी, कम से कम एक बार भी, दूर होना अस्वीकृत कर दिया था ? आप के ग्रन्थालय में प्रति वर्ष कितने नये ग्रन्थ आया करते थे ? और आप के समसामयिकों में से कितने विद्वान् महापुरुष ग्रन्थालय अथवा उसके उद्देश्य के बारे में रंचमात्र भी ज्ञान रखते थे ? क्या उन्होंने कभी ग्रन्थालय का नाम भी सुना था ! दादा साहब, आपका जमाना नहीं रहा। अब हमारा जमाना आया है। उन पुरानी कथाओं को भूल जाइए"।

एक और दूसरा वर्ग होता है विशेषज्ञों का। उन्हें अपनी जाति के, अपने व्यवसाय के विशेषज्ञों का बड़ा गर्व होता है। अन्य सबसे उन्हें विद्वेष होता है तथा असूया होती है। वह बहुधा घृणापूर्ण स्वर में बक उठता है, "वर्गीकरण करने का वह ढंग नहीं है। सूचीकरण करने का यह प्रकार है। अनुलय सेवा आपके अधिकार क्षेत्र की बात नहीं है। यह प्राध्यापकों का ही एकतन्त्र अधिकार क्षेत्र है"। हम तो उनसे यही कहेंगे, "श्रीमान् विशेषज्ञ, आप अपने क्षेत्र में अपने को जितना विशेषज्ञ समझते हैं उतने ही हम भी अपने क्षेत्र में विशेषज्ञ हैं, महाशय। अगर आपका क्षेत्र रहस्य से आवृत है और उसमें प्रवेश पाने के लिए दीर्घकालीन परम्पराप्रसिद्ध उपनयन की आवश्यकता अनिवार्य होती है, तो हमारे क्षेत्र के विषय में भी यही मानिए। आपको इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए कि यदि कोई भी नासमझ ऐरा-गैरा-नत्थूमल आपके क्षेत्र में आकर अपनी टांग अड़ाएगा तो आपको कितना क्रोध चढ़ेगा ? दूसरों के बारे में भी आप वही सोचिए जो आप दूसरों के द्वारा अपने बारे में सोचा जाना चाहते हैं"।

वस्तुतत्त्व तो यह है कि जब तक ग्रन्थालय का उद्देश्य केवल ग्रन्थों का "संरक्षण-मात्र" होता था, तब तक उसकी देख भाल करने वाले ग्रन्थालयी को किसी भी प्रकार की विशिष्ट दीक्षा देने की कोई भी आवश्यकता न थी। किन्तु जिस क्षण "ग्रन्थ संरक्षणार्थ हैं" के स्थान पर "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" यह सूत्र आ विराजा ठीक उसी क्षण ग्रन्थालयित्व पर अनेक उत्तरदायित्वों का आरोप हो गया। उन उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए, उन कर्तव्यों को पूर्ण करने के लिए सुविचारित व्यावसायिक शिक्षा दीक्षा की अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ी। उस शिक्षा-दीक्षा में उतने ही कठोर परिश्रम तथा कला निपुणता की आवश्यकता थी जितनी कि आयुःशास्त्र, यन्त्रकला अथवा विधि जैसे चिरप्रसिद्ध विद्वत् व्यवसायों के लिए आवश्यक समझी जा सकती है। यदि आज कोई नादान व्यक्ति किसी डॉक्टर,

इंजीनियर अथवा वकील से यह पूछने की हिम्मत कर बैठे कि उनके लिए व्यावसायिक दीक्षा की क्या आवश्यकता है तो क्रोध के कारण वे आग बबूला हो उठेंगे। उनका क्रोध होगा भी न्याययुक्त। किन्तु वही डॉक्टर, इंजीनियर अथवा वकील ग्रन्थालयी के लिये व्यावसायिक शिक्षा के सम्बन्ध में शङ्का किया करता है और नासमझी से पूछ बैठता है कि उसकी क्या आवश्यकता है। इसका सीधा सादा कारण यही है कि आयुःशास्त्र, यन्त्रकला तथा विधि 'प्राचीन' व्यवसाय है और उन्हें अपनी उपयोगिता सिद्ध कराने में कितनी अधिक लड़ाइयां लड़नी पड़ी थीं इसे वे बिलकुल भूल बैठे हैं। इसके विपरीत ग्रन्थालयित्व तो एक अतिनवीन व्यवसाय है। जो लोग सुविधापूर्ण स्थानों को अधिकृत किए बैठे हों उनके लिए यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उसी सुविधा को प्राप्त करने के लिए यदि कोई दूसरा नवागन्तुक प्रयत्न करे तो वे प्राणपण से उसके विरोध की चेष्टा करें। हां, अन्त में उन्हें हार कर चुप बैठ जाना पड़े वह दूसरी बात है। किन्तु वे अपने दम तक उसे उसी सुविधा-पूर्ण क्षेत्र में घुसने न देंगे। यह लड़ाई तब तक न समाप्त होगी जब तक आधुनिक डॉक्टर, इंजीनियर तथा वकील विलीन न हो जायेंगे और उनके स्थान पर ऐसे नये व्यक्ति न आ जायेंगे जिन्हें अपने यौवन काल से ही ग्रन्थालयियों के कलापूर्ण दीक्षित व्यवसाय द्वारा सेवित किए जाने के सुख तथा लाभ का पूरा पूरा अनुभव विद्यमान रहेगा।

यह बात कुछ अटपटी सी प्रतीत होती है। यह एक दुष्ट चक्र मालूम पड़ता है। "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस संगीत की मधुर स्वर लहरी प्रतिदिन जोर पकड़ती जा रही है और अब संसार के अन्यान्य देशों ने इस कुचक्र को तोड़ने का आरम्भ कर दिया है। हम उससे लाभ उठा सकते हैं। उदाहरणार्थ ग्रेट ब्रिटेन ने आज से बहुत पहले ही निश्चित कर दिया था :

"(क) जनमत को इस प्रकार शिक्षित बना दिया जाये जिससे वह ऐसी मांग करें कि दीक्षित ग्रन्थालयी नियम-स्वरूप हो जायें, अपवाद-स्वरूप नहीं,

(ख) ग्रन्थालयाधिकारियों पर इस बात का दबाव डाला जाये कि वे अपने उत्तरदायित्वों को समझें। उम्मेदवारों को चुनने के समय वे दीक्षा को उचित मान दें। अपने कर्तृगणों को ऐसी सुविधा दें जिससे वे सेवा में रहते

हुए भी कलाविषयक एवं शिक्षणविषयक दोनों प्रकार की दीक्षा को जारी रख सकें।[1]

अमेरिका और भी आगे बढ़ चुका है। वहां ग्रन्थालय शास्त्र की शिक्षा के लिये अब तक १४ दत्ताधिकार संस्थाएं स्थापित की जा चुकी हैं। यूरोप महाद्वीप के अनेक देशों के शिक्षा मन्त्रिमण्डलों ने अपने ऊपर इस बात का उत्तरदायित्व ले लिया है कि योग्य व्यावसायिक शिक्षा से युक्त ग्रन्थालयियों के समूह को उत्पादित कर देश की सेवा के लिये प्रस्तुत करें। जापान ने चिरकाल पूर्व ही अपने ग्रन्थालय विद्यालय को स्थापित कर दिया था। चीन में भी बून का ग्रन्थालय विद्यालय है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि पश्चिम के कतिपय देशों में तो ग्रन्थालय व्यवसाय शैशवावस्था को कब का अतिक्रान्त कर चुका है और प्रौढावस्था को प्राप्त कर अनेक शाखाओं को प्रसारित करने में समर्थ हुआ है। वे शाखाएं इतनी अधिक स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व को प्रदर्शित कर रही हैं कि अतिशीघ्र ही हम कतिपय अर्धस्वतन्त्र ग्रन्थालय व्यवसायों को समृद्ध एवं सम्पन्न देख सकेंगे। वे अपने आदिकालीन मूल के चारों ओर व्याप्त हो जायेंगे। इसका दृष्टान्त हमें वटवृक्ष से मिलता है। विशाल वटवृक्ष की शाखाओं से निकलने वाली प्रभूत स्तम्भ-जड़ें प्रतीत तो ऐसी होती हैं मानों वृक्ष के बाहर हों, किन्तु फिर भी वे उसकी अपनी ही होती हैं। वे सब मिलकर हजारों पक्षियों को छाया और विश्राम देती हैं।

हमारी आशा यही है कि हमारे देश में भी एक छोटा सा बीजारम्भ हो गया है। इस जाति का एक लघु बीज—ग्रन्थालयशास्त्र ग्रीष्म विद्यालय—मद्रास ग्रन्थालय संघ की वर्धन वाटिका में बड़ी सावधानी के साथ दो वर्षों तक पाला पोसा गया। जब वह प्रतिरोपण के योग्य हो गया तो उसे मद्रास विश्वविद्यालय के उर्वर उद्यान में उचित स्थान मिल गया। वह उद्यान उसे केवल अधिकतर सरलता एवं सुविधा के साथ बढ़ाएगा इतना ही नहीं, अपि तु उसके फलों का संसार में आदर हो तथा उनका पूरा पूरा मूल्य मिले इसका भी प्रबन्ध करेगा। परमात्मा करे वह लघुबीज अधिक से अधिक बढ़ता जाये तथा उसके फलों की समृद्धि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक देश को संपन्न एवं सुखी बनाए।

---

[1] रिपोर्ट ऑन पब्लिक लायब्रेरीज़ इन इंग्लैंड एण्ड वेल्स. पृ. ८८.

ग्रन्थालय कर्तृगण तथा संस्थिति

'ग्रन्थ सुरक्षार्थ हैं' इस मत ने एक और भी दुःस्वप्न दाय में दिया था। उसे हटाने के लिए ग्रन्थालय कर्तृगणों की ओर से प्रथम सूत्र को एक और लड़ाई लड़नी पड़ी। यद्यपि ग्रन्थालयों में उच्च शिक्षा एवं कला विषयक दीक्षा से संपन्न कर्तृगण स्थान पाने लगे, किन्तु इस पर भी ग्रन्थालयाधिकारियों ने प्राचीन वेतन क्रम को सुधारने की आवश्यकता का अवलोकन नहीं किया। कारण यह था कि परम्परागत रूढिवाद ने उनकी आंखों पर पट्टियां बांध दी थीं। प्राचीन वेतन क्रम केवल रखवाले ग्रन्थायियों और क्लार्क ग्रन्थालयी को आकृष्ट करने के लिये ही स्थिर किया गया था। कहीं कहीं तो ऐसा होता था कि ग्रन्थालयी का वेतन क्रम मुख्य चपरासी, मिस्त्री और तारवाले से भी निम्नतर होता था। यद्यपि इस प्रकार की विषमावस्था से ग्रन्थालयाधिकारियों की आत्मा को लेशमात्र भी कष्ट न होता था, किन्तु वही विषमावस्था प्रथम सूत्र के लिये तो तो मर्मान्तक वेदना का कारण बनी हुई थी। इस प्रकार के निम्न वेतन क्रम में यह शक्ति तो थी ही नहीं कि उचित प्रकार के व्यक्तियों को आकृष्ट कर सके। यदि दुर्भाग्यवश कोई आ भी जाता तो वह अभागा बेकारी का शिकार होता था। मरता क्या न करता? बेकारों की सेना में से खिंचा हुआ व्यक्ति ग्रन्थालय में मन ही कैसे लगा सकता? वह तो केवल समय काटने के लिए आता था। उसका शरीर तो ग्रन्थालय में होता था और मन कहीं अन्यत्र ग्रन्थालय में रहकर वह जो कुछ भी अनुभव पाता वह अनुभव ग्रन्थालय के लिये तो शून्य ही बन जाता। कारण वह व्यक्ति सर्वप्रथम अवसर पाते ही वहां से रफूचक्कर हो जाता। लगभग एक या दो पीढी तक यही कुचक्र चलता रहा। उन दिनों प्रथम सूत्र बाल्य काल में था। ग्रन्थालय के अधिकारी प्रायः ऐसे लोग हुआ करते थे जिन्हें "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस मन्त्र को मार्गदर्शक मानने वाले ग्रन्थालय के प्रभाव की छाया तक न लगी थी। उन दिनों ग्रन्थालय कर्तृगणों के कार्य का न तो उचित आदर होता था और न मूल्याङ्कन ही किया जाता था। ऐसी अवस्था में ग्रन्थालयाधिकारी न्यायपूर्ण वेतन क्रम को स्थिर करने के लिए संमत हो जाएं यह एक बड़ा भारी लक्ष्य था और उसे प्राप्त करने के लिए प्रथम सूत्र को बड़े बड़े युद्ध करने पड़े।

प्रथम सूत्र यह भली भांति जानता था कि असन्तुष्ट कर्तृगण एक सामाजिक भयस्थान है। इस सामान्य नारे को यदि ध्यान में न भी लाया जाये तो एक दूसरा बड़ा कारण और भी था। प्रथम सूत्र इस बात का भली भांति अनुभव करता था कि अर्ध वेतन भोगी कर्तृगण उस उत्साह के साथ कदापि कार्य नहीं कर सकते जो उत्साह उस (प्रथम सूत्र) के पवित्र लक्ष्य को सफलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। 'भूखे भजन न होइ गोपाला' इस उक्ति की सत्यता में उसे पूरा पूरा विश्वास था। यदि कदाचित् सेवा अथवा त्याग की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने सच्ची लगन से काम करना चाहा भी तो दरिद्र वेतन भोगी कर्तृगणों के उत्साह, उल्लास और अभ्यर्थना द्वारा इष्ट सिद्धि संभव न होगी। दरिद्र के वचन कितने ही लाभदायक क्यों न हों, किन्तु उन्हें कोई सुनना नहीं चाहता।[1]

उन वचनों को लोग स्वार्थमय अधिकारिता घोषित कर तिरस्कृत कर देंगे। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि उनके हीन वेतन से पाठकों के मन में उत्पन्न होने वाली घृणा उन्हीं पाठकों को खा जाएगी। कोई यह कह सकता है, 'आग लगे उस पाठक में, मरे वह यदि उसे मरना है'। किन्तु उस अवस्था में उसी मात्रा में ग्रन्थालय के ग्रन्थों के उपयोग की भी हानि होगी; उसमें भी त्रुटि आएगी। और यह बात प्रथम सूत्र में विश्वास रखने वालों के लिए बड़ी ही चिन्ता का विषय है।

उचित हो या अनुचित, मानव समाज ने अपने अर्थशास्त्र को वित्त के आधार पर अवलम्बित किया है। मूल्य सिद्धान्त के आधारतत्त्वों के सरल परीक्षण द्वारा यह भेदोद्घाटन हो जाएगा कि कुबेर के पैर मिट्टी के बने हुए हैं। चाहे इस भेदोद्घाटन से लोगों को बड़ी घबड़ाहट ही क्यों न हो। किन्तु उससे लाभ ही क्या है? क्या जनसमाज का अधिकांश वस्तुओं के अन्त्य मूल्य से मार्गदर्शन पाता है? "सर्वथा नहीं", यह उत्तर है। इसको देने वाले हैं महाकवि भर्तृहरि।[1] नीतिशास्त्र के - सांसारिक बुद्धिमत्ता के - वे कुशाग्रबुद्धि आचार्य हैं। उनकी उक्ति यह है :—

---

[1] हेतुप्रमाणयुक्तं वाक्यं न श्रूयते दरिद्रस्य। पञ्चतन्त्र. मित्रसंप्राप्ति. श्लो. १०३. पृ. १५२. हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज़. संपु. ११.

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतिमान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥[1]

उनका कथन है, "जिसके पास वित्त है वही सर्वश्रेष्ठ कुल में उत्पन्न माना जाता है। उसे ही विद्वानों का मूर्धन्य मान लिया जाता है। उसे ही बहु-श्रुत घोषित कर दिया जाता है। गुणों का पारखी भी वही समझा जाता है। उसके संभाषण की कला उच्चतम एवं योग्यतम निर्धारित की जाती है। उसकी मूर्ति सबसे अधिक सुन्दर कही जाती है। यह सब किसका प्रभाव है? यह उसी वित्त की माया है जिसका वह अधिपति है। उसके सब गुणों का निर्णायक वही वित्त है। उसका वित्त ही सब कुछ है। सारे गुण उसी वित्त का सहारा लेकर निवास करते हैं"।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वित्त ही संसार पर शासन करता है। मनुष्य का पद तथा उसके द्वारा की जाने वाली सेवाओं का मूल्य भी वही वित्त निर्धारित करता है। दुर्भाग्यवश जनसमाज की मनोवृत्ति कुछ ऐसी होती है कि वह (जनसमाज) किसी सेवा से उसी अनुपात में लाभ उठाने को तयार होता है जिस अनुपात में उस सेवा पर वित्त का मूल्य लगाया जाता है। इसका फल यह होगा कि हीनावस्थ कर्तृगण प्रथम सूत्र के उद्योगों को ठीक उसी प्रकार उसी मात्रा में निष्फल बना देंगे जिस प्रकार और जिस मात्रा में ग्रन्थों की कमी अथवा पाठकों की कमी निष्फल बना सकती है। ग्रन्थ, कर्तृगण तथा पाठकों की त्रिमूर्ति में कर्तृगणों की सांसारिक वस्तुविषयक समृद्धि एवं संपन्नता उतनी ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है जितनी कि ग्रन्थों की संख्या विषयक तथा पाठकों की विविधता विषयक हो सकती है। "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस सूत्र के सिद्धान्त को यदि कार्य रूप में परिणत करना है तो यह सब अनिवार्य है। इसे टाला नहीं जा सकता। यह आवश्यकता इसी प्रकार तब तक बनी रहेगी जब तक मनुष्यों का पद कुबेर के झक्की और स्वेच्छाचारी नियमों पर अवलम्बित रहेगा।

ग्रन्थालय सेवा अपने योग्य एवं न्यायप्राप्य पद और स्वरूप को क्यों नहीं प्राप्त कर पाती है इसकी एक मुख्य बाधा यह है कि उस सेवा से

---

[1]भर्तृहरि : नीतिशतक. श्लो. ३९.

उत्पन्न लाभ गूढ एवं निहित हैं। वे तात्कालिक और स्पष्ट नहीं हैं। एक डॉक्टर को केवल एक ही बार देहली लांघते ही उसके १५) पन्द्रह रुपये मिल जाते हैं। कारण यह है कि द्वितीय क्षण में ही रोगी का जीवन अथवा मृत्यु उसकी सेवा पर निर्भर है, इस वस्तु का सबको भरोसा रहता है। एक वकील केवल एक घण्टे भर ही अपनी टांगों पर खड़े होने का १००) मेहनताना पा लेता है। कारण लोगों को यहां भी यही विश्वास रहता है कि द्वितीय क्षण में ही लाखों की संपत्ति का वारा न्यारा उसकी सेवा पर निर्भर है। किन्तु ग्रन्थालय कर्तृगण की सेवा से उत्पन्न लाभ द्वितीय क्षण में ही प्रकट नहीं होते। ठीक यही बात अध्यापक की सेवा के संबन्ध में भी है। उसी क्षण की तो बात दूर रही, अनन्तर वर्ष अथवा दशक में भी उसके प्रकट होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसका लाभ यद्यपि विश्वव्यापक एवं चिरस्थायी होता है, किन्तु वह एक या दो पीढ़ी के बाद ही उपरितल भाग में दृष्टिगोचर हो पाता है। वह उस समय प्रकट होता है जब द्रव्य लगाने वाले, कष्ट सहने वाले लोग मृत्यु की काली अन्धियारी द्वारा ढँक दिए जाते हैं। लोगों के द्वारा वे विस्मृत कर दिए जाते हैं। उनका नाम निशान भी बाकी नहीं रहता। यह एक बड़ा दुःखद एवं सन्तापदायी गुण है जो ग्रन्थालय सेवा के भाग्य में विधाता ने लिख दिया है। सम्भवतः विधि ने ऐसा विधान बनाते समय जान बूझ कर दुष्टता का जामा पहन लिया होगा। अन्यथा इस प्रकार की उपाधि (गुण) से युक्त करने का कोई समर्पक कारण नहीं प्रतीत होता।

इस विषम परिस्थिति के होते हुए भी, पाश्चात्य देशों में प्रथम सूत्र ने इस दुष्टता भरी चाल के परिणामों पर विजय प्राप्त करने में प्रायः पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली है। पाश्चात्य समाज ने आज यह भली भांति मान लिया है कि विश्वविद्यालय के ग्रन्थालयी का पद तथा वेतन परमाचार्य के सर्वथा समान हो। महाविद्यालय का ग्रन्थालयी प्राध्यापक के समान आदर का अधिकारी होना चाहिए। विद्यालय का ग्रन्थालयी किसी भी प्रकार अध्यापक से निम्न कोटि का न माना जाना चाहिए। इसी प्रकार नगर का ग्रन्थालयी उसी वेतन, उन्हीं अधिकारों तथा उन्हीं सुविधाओं का अधिकारी होना चाहिए जो वेतन, अधिकार तथा सुविधायें यन्त्रकला—विशारद, स्वास्थ्याधिकारी, राजस्वाधिकारी तथा शिक्षाधिकारी आदि नगर के अन्य अधिकारियों को प्राप्त हों।[1]

[1] मध्यकालीन भारत के ग्रन्थालयियों के पद तथा वेतन के सम्बन्ध में

हमारा भारत अपने अन्य बन्धुओं का कब सहगामी बनेगा ? क्या वह अपने बन्धुओं के—संसार के अन्य देशों के—अनुभवों से लाभ उठाएगा ? अथवा, वह अपनी आंखों को मींच लेगा और उन्हें देखेगा ही नहीं ? उनसे शिक्षा ग्रहण करने की तो बात ही और है। अगर उनके अनुभवों से शिक्षा ग्रहण न की गई, तो इसका यही अर्थ होगा कि उन्होंने जो अन्धकारमय कष्ट-

---

एक टिप्पणी यहां दी जाती है। मध्यकालीन भारत की शिक्षा संस्थाओं में ग्रन्थालयियों का क्या स्थान था इस वस्तु पर एक अभिलेख द्वारा बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला जाता है। वह अभिलेख हैदराबाद आरकेऑलाजिकल सीरीज़ के सं. ८ के रूप में प्रकाशित 'नागाइ के अभिलेख' इस नाम से मुद्रित है।

नागाइ वादी के निकट का एक ग्राम है। यह कहा जाता है कि उस स्थान पर प्राचीन काल में एक विशाल नगर बसा हुआ था, जो समय के प्रभाव से ध्वस्त हो गया। अब वहां उसके भग्नावशेष बचे हुए हैं। उसके ध्वंसावशेष, स्मारक चिन्ह तथा अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व के हैं।

उस ग्राम के 'अरुवथु कम्बड गुडी' नामक षष्टिस्तम्भ मन्दिर में एक कन्नड अभिलेख पाया गया है, जिसकी तिथि २४ दिसम्बर १०५८ पड़ती है। उसमें चालुक्यराज राय नारायण के सुप्रसिद्ध सेनापति एवं अमात्य मधुसूदन द्वारा स्थापित सर्वजन संस्थाओं का वर्णन पाया जाता है। उसके द्वारा स्थापित संस्थाओं में एक छात्रावाससहित महाविद्यालय था। उसका नाम 'छति कसल' था। वह महाविद्यालय २०० वेदाध्यायियों और ५२ शास्त्राध्यायियों के लिये बनाया गया था। उस संस्थान में तीन वेदाध्यापक, तीन शास्त्राध्यापक तथा छः ग्रन्थालयी (सरस्वती भाण्डारिक) थे।

यदि एक दो नहीं, छः छः ग्रन्थालयियों की नियुक्ति का कोई अर्थ निकाला जा सकता है तो वह यही है कि उस महाविद्यालय से सम्बद्ध ग्रन्थालय अति महान् आकार-प्रकार का एवं उपयोगिता से परिपूर्ण होगा। इस प्रकार का अनुमान सर्वथा युक्तियुक्त होगा। इस मध्यकालीन महाविद्यालय के ग्रन्थालय की हमारे वर्तमान महाविद्यालयों के ग्रन्थालयों से तुलना करना बड़ा ही रोचक विषय प्रतीत होता है। हमारे आज के महाविद्यालयीय ग्रन्थालय न तो अपनी ग्रन्थ सामग्रियों को समुन्नत करना चाहते हैं और न

संकुल मार्ग लङ्घित किया उसका एक एक इंच भारत को भी लांघना पड़े ! अगर वह ऐसा कुपरिणामी पथ पकड़ेगा तो उसकी सन्तानें अपने अन्य

आवश्यक मानव सहायताओं की ही व्यवस्था करना चाहते हैं। इनकी ओर उनका बिलकुल ध्यान ही नहीं रहता। इनकी आवश्यकता का अनुभव करने की तो बात ही निराली है। किन्तु इनकी व्यवस्था एवं संपादन के बिना उन ग्रन्थालयों की पाठ्यसामग्री का न तो अध्यापक ही उचित उपयोग कर सकते हैं और न छात्र ही। सब कुछ व्यर्थ एवं नष्ट हो जाता है। किसी का कोई लाभ नहीं होता। उसी अभिलेख का दूसरा पद्य यह सूचित करता है कि महाविद्यालय ग्रन्थालयियों के पद निर्धारण में मधुसूदन हम लोगों से कहीं आगे बढ़ा चढ़ा था। कारण यह है कि अध्यापकों और ग्रन्थालयियों को वेतन के स्थान पर भूमिदान का प्रकार निम्नलिखित था :—

प्रभाकर दर्शन प्राध्यापक को भूमि की	४८	मात्राएं	(इकाइयां)
भाट्ट दर्शन प्राध्यापक को	,, ३०	,,	
न्याय प्राध्यापक को	,, ३०	,,	
वेदाङ्ग प्राध्यापक को	,, २०	,,	
छः ग्रन्थालयियों में से प्रत्येक को	,, ३०	,,	

इससे यह प्रकट होता है कि मधुसूदन ने ग्रन्थालयियों को तथा प्राध्यापकों को सर्वथा समान रूप से व्यवहृत किया है। साथ ही यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उनकी शिक्षा विषयक योग्यताएं भी उसी स्तर की होंगी।

आज की पश्चिम जगत् की शिक्षा संस्थाएं ग्रन्थालयियों के स्थान तथा पद का यथार्थ मूल्याङ्कन करती हैं। वे ग्रन्थालयियों को प्राध्यापकीय पद तथा मान देती हैं। साथ ही इसके बदले में वे यह भी अनिवार्य समझती हैं कि ग्रन्थालयियों की शिक्षा सम्बन्धी योग्यताएं अत्युच्च कोटि की हों। हमारी यह सदाशा है कि हमारे देश के विश्वविद्यालय, महाविद्यालय तथा विद्यालय हमारे यशस्वी स्वदेशवासी मधुसूदन द्वारा प्रदर्शित मानतुला को पहुँच जाएंगे। यह मानतुला संसार के अन्य देशों में आज भली भांति मानी जाती है और उसके अनुसार कार्य किया जाता है। हमारे प्राचीन आदर्श से पश्चिम के वर्तमान व्यवहार में कितनी अधिक समता है !

बन्धुओं को कदापि कथमपि पकड़ नहीं सकतीं, नहीं सकतीं। हम यही आशा करते हैं, प्रभु से हमारी यही प्रार्थना है कि भारत उस विनाशपूर्ण मार्ग का आश्रयण नहीं करेगा। अपि तु वह उन्नति की लहरों के सर्वोच्च शिखर पर धड़ाम से कूद जाएगा, विजयोल्लास के साथ अपने ग्रन्थालयियों को अन्य देशों के ग्रन्थालयियों के समकक्ष बना देगा और इस प्रकार ग्रन्थालय शास्त्र के प्रथम सूत्र को ऐसा अवसर देगा जिससे वह भारत की चिरविस्मृत सन्तानों को भी अधिकार, मान एवं प्रतिष्ठा के उसी सर्वोच्च पद पर अभिषिक्त करा सके जिस पर उसने संसार के अन्य देशवासियों को सफलतापूर्वक कराया है। तथास्तु !

ग्रन्थालय कर्तृगण एवं उनका उत्तरदायित्व

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि प्रथम सूत्र का सर्वप्रथम कार्य यही था कि ग्रन्थालय कर्तृगणों के सम्बन्ध में ग्रन्थालयाधिकारियों को योग्य शिक्षा दे। हम यह भी देख चुके हैं कि उसने इस कार्य को क्रमशः चार अवस्थाओं में सम्पादित किया। सर्वप्रथम उसने यह विश्वास दिलाया कि विशिष्ट कर्तृगण की आवश्यकता है, उसके पश्चात् विद्वान् कर्तृगण की, उसके अनन्तर दीक्षित कर्तृगण की और सबके अन्त में सुवेतनभोगी कर्तृगण की। इस सम्बन्ध में प्रथम सूत्र का द्वितीय कार्य यह था कि स्वयं कर्तृगण को भी उचित स्वर से समञ्जस कर दे। यदि ग्रन्थालय कर्तृगण सुग्रीव के समान[1] स्वयं ही उस महान् लक्ष्य को भूल बैठे, जिसके कारण उन्हें उनकी

[1] उसने (सुग्रीव ने) अलभ्य अनुग्रह, प्रभुत्व, अधिकार, पद आदि प्राप्त किए। किन्तु जिस प्रबल सहायता द्वारा वे मिले उसका उसे अब ध्यान भी नहीं रहा है। वह अपने कर्तव्य पथ से भ्रष्ट हो गया है। वह स्वधर्म से च्युत हो गया है। स्नेह की तो बात ही क्या की जाए, उसे मेरे शौर्य का भी ज्ञान नहीं है। कारण यह है कि अधिकार-मद ने उसकी विवेकबुद्धि सर्वथा नष्ट कर दी है। मोह की अन्धियारी ने उसे पूर्णतया ढँक लिया है। वह चेतनाशून्य बन गया है।

कम्बन : रामायणम् (तामिल). किष्किन्धाकाण्डम्. अष्टम. २. (अनूदित).

विद्वत्ता, दीक्षा, उच्च वेतन तथा महापद मिले तो यह बड़े ही शोक का विषय होगा।

अधिकार की कलगियाँ एडेन बाग के सेव सरीखी होती हैं। उनका उपभोग करते हुए आनन्द उठाने वाले लोगों को चाहिए कि कौशल्येय और सौमित्रि के क्रोधपूर्ण वचनों को ध्यान में रखकर समय समय पर बीच बीच में अपने हृदय को टटोला करें। इस परीक्षण की बड़ी आवश्यकता है।[1]

ग्रन्थालय कर्तृगणों को प्रत्येक क्षण यह स्मरण करते रहना चाहिये कि 'ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं'। किसी भी क्षण उन्हें अपने पूर्वज बॉडलियन के ग्रन्थालयी की चित्तवृत्ति को अवसर न देना चाहिये। उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि 'वह अनेक दृष्टियों से बड़ा ही अच्छा ग्रन्थालयी था; किन्तु यदि कोई भी व्यक्ति उसके ग्रन्थों के पास फटकता तो उसकी घृणा जागृत हो उठती'।[2] ग्रन्थालयियों को कदापि यह न भूलना चाहिये कि ग्रन्थालय में ग्रन्थ 'अध्ययन के लिए' एकत्रित किए जाते हैं, 'अध्ययन के लिए' सज्जीकृत किए जाते हैं, 'अध्ययन के लिए' प्रदर्शित किए जाते हैं और अध्ययन के लिए' ही समर्पित किए जाते हैं। इस सम्बन्ध में कलाविषयक अनन्त प्रक्रियाओं एवं परिपाटियों का अनुसरण किया जाता है। वे निम्नलिखित अङ्गों से सम्बन्ध रखती हैं। विशेषज्ञों से सुझावों को प्राप्त करना, क्रय अथवा दान द्वारा ग्रन्थों को प्राप्त करना, उनका परिग्रहण, वर्गीकरण, सूचीकरण, फलकपञ्जिकीकरण, फलकीकरण, आरोपण तथा अवरोपण—ये सब केवल 'ग्रन्थों के अध्ययन के लिए' किए जाते हैं। प्रथम सूत्र के इस उद्दिष्ट सर्वप्रधान महालक्ष्य की सिद्धि के लिए, उसमें अधिकतम सफलता प्राप्त करने के लिए, ग्रन्थालयियों को चाहिए कि वे सदा सर्वदा उस लक्ष्य का स्मरण करते रहें। इतना ही नहीं, उन्हें यह भी चाहिए कि आवश्यक विद्वत्ता और व्यावसायिक दीक्षा को संपादित करें। साथ ही उनका यह भी प्रमुख कर्तव्य है कि कतिपय प्रवृत्तियों को अङ्गीकृत करें तथा विशिष्ट रुचियों को अभिवृद्ध करें। कारण ये सर्वथा अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। उपर्युक्त साधनों के द्वारा ही प्रथम सूत्र के मनोरथ की सिद्धि हो सकती है। अन्य कोई उपाय नहीं है।

[1] वाल्मीकि : रामायण. किष्किन्धा काण्ड. सर्ग ३३ एवं ३४.

[2] लायब्रेरी असोसिएशन रेकॉर्ड (न्यू सीरीज़). संपु. ६. पृ. २३७.

ग्रन्थालय कर्तृगण तथा पाठक

सर्वप्रथम विचारणीय है पाठकों के प्रति उनका रुख। यदि हम यह कहें कि पाठक सजीव ग्रन्थालय व्यापार के प्रमुख अङ्ग हैं तो वह अनावश्यक सा प्रतीत होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश परिस्थिति कुछ विचित्र ही है। ऐसे भी ग्रन्थालयी हैं जो पाठकों को झंझट और परेशानी का अवतार समझते हैं। उनका अभ्यास ही कुछ ऐसा पड़ जाता है। उससे वे छुटकारा पा नहीं सकते। दूसरे लोग कुछ और ढंग के होते हैं। वे कतिपय पाठकों को निकट आने की अनुमति दे देते हैं। उसमें उन्हें कोई विशेष आपत्ति नहीं होती। किन्तु उसके बदले में वे यही चाहते हैं कि पाठक निरन्तर उनके कृपाकटाक्ष का ध्यान रखते रहें। पाठक यह निरन्तर समझते रहें कि वहां वे उनकी कृपा से आए हैं और उन्हें किसी प्रकार की सुविधा मांगने का अधिकार नहीं है। अध्ययन में सहायक सुख की आशा करने का तो नाम भी अनुचित है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पाठकों की आवश्यकताओं की ओर भी थोड़ा बहुत ध्यान दे देते हैं। उसमें उन्हें विशेष आपत्ति नहीं होती। किन्तु उनकी यही शर्त होती है कि उसके कारण उन्हें प्रबन्ध सम्बन्धी परिपाटी के सुचारुतम निर्वाह में रंचमात्र भी बाधा न पहुँचे। उनका मूलमन्त्र यही होता है—'प्रबन्ध सर्वप्रथम', 'पाठक और सब कुछ उसके पश्चात्'। आज से १०० या १५० वर्ष पूर्व जब कि प्रथम सूत्र व्यापक रूप से विश्वविदित न था, इस प्रकार के दृष्टिकोण वाला ग्रन्थालय किसी प्रकार सहन भी किया जा सकता था। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि वस्तुस्थिति ऐसी ही थी।

१७६३ ई० से प्रायः अर्धशताब्दी तक ऑक्सफोर्ड का बॉडलियन ग्रन्थालय जीसस कॉलेज के पादरी जॉन प्राइस के हाथों में था। उसके ग्रन्थालय जीवन के सर्वथा आरम्भ काल में ही, १७७१ ई० में केप्टेन कुक की जल यात्रा (वॉयेजेस) प्रकाशित हुई थी। उस कृति के लिये बड़ी गहरी मांग थी। हमारे ग्रन्थालयी प्राइस ने ग्रन्थालय की उस प्रति को अपने एक मित्र को सौंप दिया और उससे यह कह दिया कि वह उसे जब तक चाहे तब तक अपने पास रख सकता है। अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि उसे 'उसके सम्बन्ध की पृच्छाओं द्वारा सतत सताया जाए'। ग्रन्थालयी प्राइस की दृष्टि में यदि ग्रन्थालय पाठकों के बिना ही रह जाए तो कोई हानि न थी। वस्तुतः यह कहा भी जाता है कि 'वह उपेक्षा और अशिष्टता द्वारा पाठकों को हतोत्साह किया

करता था'। इतना होते हुए भी किसी विघ्नबाधा के बिना पूरे पचास वर्षों तक उसे बॉडलियन पर शासन करने दिया गया। वहां से विदा लेते समय वह अपने जामाता को उस गद्दी पर बिठाता गया। वह भी प्राचीन युग का एक प्रतीक था और अनन्तर के पचास वर्षों तक उसी प्राचीन चाल ढाल से, ठीक उसी परिपूर्णता के साथ ग्रन्थालय को चलाता रहा।

किन्तु ग्रन्थालयी प्राइस आज युगवैपरीत्य है, कालभ्रान्ति है। हम यह कह सकते हैं कि अब तो 'उपेक्षा' और 'अशिष्टता' दूसरे पक्ष पर पहुँच गई हैं। कारण आज पाठक को ग्रन्थालय कर्तृगण की 'अशिष्टता' चुपचाप सहन नहीं करनी पड़ती, अपि तु अब तो ग्रन्थालय कर्तृगण को पाठक की अशिष्टता का मौनावलम्बनपूर्वक सहन करना पड़ता है। वह अशिष्टिता कभी कभी अविवेकी आत्मप्रशंसी पाठकों की ओर से प्रदर्शित की जाती है। ग्रन्थालय कर्तृगण उसे सह लें इसके अतिरिक्त कोई गति नहीं है। कारण उन्हें प्रथम सूत्र का पूरा पूरा ध्यान बराबर बना रहता है।

आज ग्रन्थालय को आधुनिक दुकान के ढंगों को स्वीकार करना पड़ता है। ग्रन्थालय को दुकान के रूप में चलाना पड़ता है। यह सत्य है कि बहुत से ग्रन्थालयों में इतने अधिक सहायक न हों कि वे प्रत्येक आगन्तुक का स्वागत करें और इसी के लिए सदा सर्वदा तयार रहें। कारण उन्हें और भी कई काम करने होते हैं। उन्हें अनेक पृच्छाओं के समाधान ढूंढने होते हैं, अनेक पत्रों के उत्तर देने होते हैं, सूचीपत्रक लिखने होते हैं तथा इनके अतिरिक्त और भी १०८ काम करने होते हैं। किन्तु, इतना होते हुए भी, यह नियम होना चाहिए कि ज्यों ही कोई पाठक ग्रन्थालय में प्रवेश करे त्यों ही उसी क्षण हाथ का काम छोड़ दिया जाए, चाहे वह काम कितना ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो। पाठक के हृदय में यह भावना उत्पन्न करानी चाहिए कि उसका स्वागत किया जा रहा है और उसकी ओर हृदय से ध्यान दिया जा रहा है। हम यह जानते हैं कि कभी कभी बड़ी झुंझलाहट के अवसर आते हैं। हम अङ्कों का जोड़ करते रहते हैं और ज्यों ही संकलित संख्या को लिखने जाते हैं त्यों ही कोई पाठक प्रवेश करता है! अब इससे झुंझलाहट उत्पन्न न हो तो क्या हो? किन्तु इससे भी बढ़कर झुंझलाहट तो तब होती है जब यह ज्ञात होता है कि वह पाठक केवल इधर उधर भटकना चाहता है और उसे किसी विशिष्ट वस्तु की आवश्यकता नहीं है। किन्तु ये छोटी छोटी बातें हैं और हमारी परीक्षा करने के लिये ही उपस्थित होती हैं। हमें इनका मुकाबला करना

चाहिए, निरन्तर प्रसन्नमन रहना चाहिए और किसी भी प्रकार की अशिष्टता न दिखलानी चाहिए। यदि हम निरन्तर यह ध्यान रखें कि 'ग्राहक प्रसन्नमुख सहायक को प्यार करता है' तो वह बड़ी ही अच्छी बात होगी।

ग्रन्थालय सहायकों का किसी भी क्षण ऐसा बर्ताव न हो कि लोगों को निम्न प्रकार के अपवाद करने का अवसर मिले : "कुछ दिन पूर्व हम उस प्रासादसदृश भव्य ग्रन्थालय में गए थे। वहां एक मानव मूर्ति थी। उसके शरीर से सड़े तेल की दुर्गन्ध निकल रही थी। वही उस समय उस ग्रन्थालय का अधिकारी था। वह आरोपण-अवरोपण फलक पर दोहरा शरीर किए झुका हुआ था। संभवत: वह लिफाफों पर पते लिख रहा था। जब हम उस ग्रन्थालय में प्रविष्ट हुए तो हमारी ओर बिलकुल ही ध्यान न दिया गया; मानों कोई आया ही न हो। कुछ मिनटों के बीत जाने के बाद जाकर हमें यह ज्ञात हुआ कि वह मूर्ति वस्तुत: सजीव है। जब उसने अपनी सजीवता प्रकट की तो उसके चेहरे के भाव स्पष्टत: यही कह रहे थे, 'मैं यह चाहता हूं कि जब मैं इस प्रकार का कार्य करने के लिए बाध्य रहूं तो कोई मेरे पास न आए'। किन्तु उसने जिन शब्दों का प्रयोग किया वे ये थे, "मैं आपके किस काम आ सकता हूं ?" किन्तु इतने पर भी वह अपनी बैठक से जरा भी हिला नहीं। हमने ज्यों ही अपनी आवश्यकता बतलाई त्यों ही उसने उत्तर में कह डाला, "दु:ख है, वह ग्रन्थ प्राणीकृत (बाहर गया हुआ) है"। यह सब एक ही क्षण में हो गया। हमें यह लेशमात्र भी निश्चित ज्ञात न हो सका कि उसे वस्तुत: 'दु:ख' था, अथवा उसे उस ग्रन्थ का ज्ञान भी था जिसकी हमें आवश्यकता थी और उस समय भी वह ग्रन्थ निरन्तर फलक पर ही नहीं पड़ा हुआ था।"

इसके विपरीत, जब पाठक अपने घर वापस जाएं तो वे यह कहने में समर्थ हों, "जिस नवयुवा ने ग्रन्थालय में हमारा स्वागत किया उसकी मधुर मुस्कान इतनी मोहक थी कि उससे सारा कमरा जगमगा सा उठा। हमें इस बात का पूरा पूरा भरोसा हो गया कि हम सर्वथा उचित स्थान में गए थे। उस ग्रन्थालय में प्रत्येक वस्तु इतनी सुख-शान्ति-दायक बना दी गई है। किसी भी दिन मैं अपने अवकाश समय को वहीं व्यतीत करना श्रेष्ठ मानूंगा"। यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि पाठक सजीव ग्रन्थालय व्यापार के महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। उनके प्रति ग्रन्थालयी का व्यवहार सुतरां स्नेहसद्भावपूर्ण होना आवश्यक है। इसी में ग्रन्थालय की सार्थकता है। इसी में प्रथम सूत्र की सफलता है।

ग्रन्थालय कर्तृगण तथा मानस शास्त्र

ग्रन्थालय में सर्वप्रथम तो पाठक का स्वागत किया जाना चाहिए। उसके पश्चात् उसका अनुरञ्जन तथा प्रसादन। कर्तृगण उसके मनोभावों से समञ्जस और एकतान हो जाएं यह अभीष्ट है। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए ग्रन्थालयी को अवश्य ही मानसशास्त्री होना चाहिए। हम तो एक सीढ़ी और आगे बढ़कर कहेंगे कि ग्रन्थालय कर्तृगण का प्रत्येक घटक (व्यक्ति) मानसशास्त्री भी अवश्य हो। कारण उसके बिना सर्वश्रेष्ट फल नहीं प्राप्त किए जा सकते। कोई यह पूछ सकता है, "क्या इसका यह अर्थ होता है कि ग्रन्थालय कर्तृगण का प्रत्येक घटक मानसशास्त्र के सिद्धान्त का विधि-पूर्वक गहन अध्ययन करे?" नहीं, नहीं, हमारा यह तात्पर्य नहीं है। किन्तु यह तो सत्य ही है कि यदि ऐसा किया भी जाए तो कोई विशेष हानि न होगी। एक बच्चा भी अनुभव से यह समझ लेता है कि अपने माता-पिता अथवा अध्यापक से अपनी बातें मनवाने के लिए किस प्रकार की विशिष्ट युक्तियां काम में लानी चाहिएं। इसी प्रकार ग्रन्थालय कर्तृगण का प्रत्येक घटक विविध प्रकार के लोगों को देखने, सुनने और समझने के गणनातीत अवसर पाया करता है। वह भी अभ्यास से मानसशास्त्र का कार्यक्षम ज्ञान और मानवस्वभाव को समझने की शक्ति अर्जित कर ले। ग्रन्थालयी का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक प्रकार के पाठक से काम निकाले और प्रत्येक प्रकार के पाठक का काम निकाल दे। केवल नमनशील पाठकों से ही काम नहीं निकल सकता। केवल उन्हीं की इच्छा पूर्ति कर देने में सफलता की पूर्णता नहीं हो सकती। वस्तुतः सफल ग्रन्थालयी तो वह है जो कठिन पाठकों को बस में कर सके। अन्यथा उस मात्रा में उसके ग्रन्थ भी उपयोगशून्य होकर पड़े रहेंगे। जब कभी ग्रन्थालयी असफल होता है तो वह अपनी असफलता का सारा दोष पाठक की विवेकशून्यता पर लाद देता है। यही बहुधा देखा जाता है। ग्रन्थों का ज्ञान तो युद्ध में आधी विजय प्राप्त करना है। देवदत्त और यज्ञदत्त के बीच भेद न समझना उतना ही महाविनाशकारी है जितना न्यूटन और आइनस्टाइन के बीच हो सकता है। दुराराध्य (कठिन) पाठक का आराधन करने के लिए आराधक को चाहिए कि उसे पूर्णतया समझे। क्या वह रुरो रहा है? यदि हाँ, तो क्या उसके हृदय में भी वे ही भाव हैं, अथवा वह प्रदर्शनमात्र है? क्या

वह वस्तुतः दुष्ट स्वभाव वाला है, अथवा केवल उसका व्यवहार प्रकार ही असनोरम है? अविवेकी, असनोरम, आडम्बरी अथवा अतिकठोर समालोचक पाठक की समस्या को सुलझाने से मुँह मोड़ने का अर्थ यह होता है कि अनेक संभावित पाठकों को अपने आरोपणावरोपण फलक से पराङ्मुख कर सदा के लिये विदा कर दिया जाए। सुखाराध्य पाठकों को अतिशीघ्र अनुकूल बना लेने की यथार्थता और दुराराध्य पाठकों को समझने तथा उनके साथ कार्य करने में धीरता और चतुरता ही सच्ची सफलता की समर्थ कुञ्जियां हैं।

कुछ वर्ष पूर्व इंगलैण्ड के एक ग्रन्थालय के अनुलय-विभाग में एक पगड़ीधारी भारतीय 'भूमि नियोग' पर कार्य कर रहा था। ऊँचा टोप पहने हुए एक अंग्रेज वहाँ आया। वह सदा की भांति परिचय के साथ आया था। किन्तु वहां कर्तृगण-ढेरे में एक अपरिचित विदेशी मूर्ति को देख कर बड़ा निराश हुआ।

भारतीय ग्रन्थालयी इस निराशापूर्ण भावभङ्गी को देखकर यह भांप तो गया कि उस अंग्रेज को उसका वहां रहना बहुत खटका है, किन्तु वह अपने मनोभावों को दबा कर उस अंग्रेज के पास गया और उसने उससे पूछा कि वह उसकी क्या सेवा कर सकता है।

"कुछ नहीं, धन्यवाद," इस प्रकार का शिष्ट उत्तर मिला; और वह अंग्रेज एक आधारिका से (आलमारी) दूसरी की ओर भटकता ही रहा।

कुछ मिनटों के पश्चात् वह भारतीय पुनः उसके पास गया। उसने फिर पूछा, "क्या मैं आपकी सहायता कर सकता हूं?"

"धन्यवाद! मादक वैरस्य सम्बन्धी ग्रन्थ किधर हैं?" बस इतने ही शब्द उसके मुंह से निकले और वे भी बड़ी ही अनिच्छा के साथ।

इसके अनन्तर 'मादक वैरस्य' क्षेत्र के ग्रन्थों का तांता बंध गया। एक के बाद एक ग्रन्थ उलटा-पलटा जाने लगा। यह परंपरा बराबर चलती रही। बार बार, प्रति मिनिट जेब से घड़ी निकाली जाने लगी। सचमुच वह शीघ्रता में था, ऐसा प्रतीत होता था। उसे अपना उद्दिष्ट विषय नहीं मिला था और घड़ी ४-४५ बजा चुकी थी। बेचारा, गरीब अन्वेषक! "यदि आप मुझे ठीक ठीक बताएं कि आपको मादक वैरस्य के सम्बन्ध में किस विशिष्ट जानकारी की आवश्यकता है तो कदाचित् मैं आपकी सेवा कर

सकूं", भूमिनियुक्त ग्रन्थालयी ने पुनः दूसरी बार सेवा की भेंट उपस्थित करनी चाही।

इस बार उस उच्चटोपधारी को मुंह खोलना पड़ा। किन्तु उसका चेहरा दूसरी ही ओर मुड़ा हुआ था। "मुझे एक मादक वैरस्य सभा का सभापतित्व करना है। मैं अपने प्रवेशक भाषण के लिए कुछ चाहता हूं। क्या आप मेरी सहायता कर सकते हैं? मेरी गाड़ी ५-१५ बजे छूटती है।"

उसी क्षण एन्साइक्लोपीडिया (विश्व कोश) का एक संपुट लाया गया। वह दूसरे कमरे में रखा हुआ था। उसमें उसे वह वस्तु मिल गई जिसके लिए वह अस्त-व्यस्त हो रहा था। उसका मनोरथ सिद्ध हो गया था। उसने धन्यवादों की झड़ी लगा दी। उसका चेहरा मुस्करा रहा था। उसकी अन्तरात्मा खिल उठी थी। जब ग्रन्थालय बन्द किया जा रहा था तब उस नये अनुलय ग्रन्थालयी ने प्रश्न किया कि इस प्रकार के विचित्र व्यवहार का क्या कारण हो सकता है? उसकी यह समस्या थी। अन्य अनुभवी सहयोगी ने उत्तर दिया, "शर्मीलापन, भाई शर्मीलापन"। उसने उस समस्या को सुलझा दिया। साथ ही उसने यह भी कहा, "यदि तुम सफल अनुलय ग्रन्थालयी बनना चाहते हो तो तुम्हें न केवल अपने ही शर्मीलेपन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होगा, अपि तु दूसरों के शर्मीलेपन पर भी।"

एक सर्वसामान्य अवस्था इस प्रकार की होती है। एक नया पाठक अन्दर प्रवेश करता है। हमने उसे पहले कभी भी देखा नहीं होता। वह अपनी आवश्यकताओं को प्रदर्शित करता है। हम उसे वे ग्रन्थ दिखलाते हैं जो हमारी दृष्टि में उसके लिए उपयुक्त होते हैं। इस बीच हमें निरन्तर उसका मनन करते रहना चाहिए और इस बात की जांच करते रहना चाहिए कि हमारी प्रथम धारणा उचित है अथवा उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हम अपने विचारों को, अपनी रुचियों और अरुचियों को उस पर न लादें। यदि हम उसे वेनब्राउ की महाकार आवृत्ति दें और वह कहे, 'मैं वेनब्राउ नहीं पसन्द करता, वह बड़ा भयानक है' तो अच्छा यह होगा कि हम उस बात को वहीं समाप्त कर दें। उसे तूल न दें, उस पर विवाद न करें; और आगे की आधारिका की ओर बढ़ जाएं। उस सम्बन्ध में वाद विवाद करने से, युक्तिवाद लड़ाने से कोई लाभ न होगा।

हाय, कितने खेद की बात है? हम सब मानव हैं। अपनी न्यायसंगतता सिद्ध करने के लिए हम अपने मुख्य लक्ष्य से पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। हमारा मुख्य लक्ष्य क्या है? वह यही है कि हम पाठक की सच्ची सहायता करें, जिससे वह उसी वस्तु को पा सके जिसका प्रसन्नता और लाभ के साथ वह उपयोग कर सकता हो। हमें पाठक के साथ कार्य करना है। उसके ऊपर कार्य नहीं करना है। हम उसका नेतृत्व कर सकते हैं, उसका मार्गदर्शन कर सकते हैं। किन्तु उसे हम घसीट नहीं सकते। उसके साथ उसकी ही भूमि पर हम कार्य कर सकते हैं। उसकी ही गति के अनुसार चल सकते हैं। यदि वह घमण्डी हो तो हम भी उसी खेल को खेलें। यदि वह अपने विषय में बहुत बड़ बड़ करता हो तो हम आदर के साथ उसे सुनें। किन्तु वह अपने लक्ष्य से पथ-भ्रष्ट न होने पाए इस बात का हमें पूरा ध्यान रखना चाहिए। वह लक्ष्य यही है कि ग्रन्थों का वरण किया जाए। यदि वह अविवेकी और आडम्बरी हो तो उसे यथासंभव शीघ्र यह बतला दिया जाए कि हम भी अपने पक्ष पर दृढ़ रह सकते हैं तथा हमें अपने अधिकारों और शक्तियों का पूरा पूरा ज्ञान है। किन्तु किसी भी प्रकार यह उचित नहीं है कि हम केवल गोष्ठी सुख के लिए सुन्दर वार्तालाप के लोभ में फंस जाएं और एक ओर बैठकर बातों में सारा समय गँवाने लगें, चाहे वे बातें कितनीं ही मनोरञ्जक और सुखदायक क्यों न हों।

आगन्तुक दो वर्ग के होते हैं। एक होते है अविलम्बी। वे तात्कालिक ध्यानदान की अपेक्षा रखते हैं, जिससे वे यथासंभव शीघ्र वहां से लौट कर अपने घर की ओर चल पड़ें। दूसरा वर्ग होता है विलम्बी। वे स्वस्थचित्त होकर वरण करना चाहते हैं। उन्हें विशेष सहायता की आवश्यकता नहीं होती। इस बिन्दु पर निदान करने में यदि लेशमात्र भी त्रुटि की गई तो उसका तात्कालिक एवं स्थायी भयानक परिणाम होता है। भूल तो यह है कि सभी आगन्तुकों को एक ही प्रकार के पुरातन स्वागतवचनों से बुलाया जाए। पाठक के अवलोकनमात्र ही से हम अपने मनमें यह प्रश्न करें: "यह पाठक किस वर्ग में आता है?" जो उत्तर मिले उसी विश्लेषण के आधार पर उसके साथ व्यवहार किया जाना चाहिए। कोई अविवेकी, असहिष्णु व्यक्ति उपहास करते हुए कह सकता है, "बड़े आए उपदेशक, साक्षात् विदुर के अवतार!" किन्तु यदि लेशमात्र भी बुद्धि का उपयोग कर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि तुच्छ प्रतीत होने

सकूं", भूमिनियुक्त ग्रन्थालयी ने पुनः दूसरी बार सेवा की भेंट उपस्थित करनी चाही।

इस बार उस उच्चटोपधारी को मुंह खोलना पड़ा। किन्तु उसका चेहरा दूसरी ही ओर मुड़ा हुआ था। "मुझे एक मादक वैरस्य सभा का सभापतित्व करना है। मैं अपने प्रवेशक भाषण के लिए कुछ चाहता हूं। क्या आप मेरी सहायता कर सकते हैं? मेरी गाड़ी ५-१५ बजे छूटती है।"

उसी क्षण एन्साइक्लोपीडिया (विश्व कोश) का एक संपुट लाया गया। वह दूसरे कमरे में रखा हुआ था। उसमें उसे वह वस्तु मिल गई जिसके लिए वह अस्त-व्यस्त हो रहा था। उसका मनोरथ सिद्ध हो गया था। उसने धन्यवादों की झड़ी लगा दी। उसका चेहरा मुस्करा रहा था। उसकी अन्तरात्मा खिल उठी थी। जब ग्रन्थालय बन्द किया जा रहा था तब उस नये अनुलय ग्रन्थालयी ने प्रश्न किया कि इस प्रकार के विचित्र व्यवहार का क्या कारण हो सकता है? उसकी यह समस्या थी। अन्य अनुभवी सहयोगी ने उत्तर दिया, "शर्मीलापन, भाई शर्मीलापन"। उसने उस समस्या को सुलझा दिया। साथ ही उसने यह भी कहा, "यदि तुम सफल अनुलय ग्रन्थालयी बनना चाहते हो तो तुम्हें न केवल अपने ही शर्मीलेपन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होगा, अपि तु दूसरों के शर्मीलेपन पर भी।"

एक सर्वसामान्य अवस्था इस प्रकार की होती है। एक नया पाठक अन्दर प्रवेश करता है। हमने उसे पहले कभी भी देखा नहीं होता। वह अपनी आवश्यकताओं को प्रदर्शित करता है। हम उसे वे ग्रन्थ दिखलाते हैं जो हमारी दृष्टि में उसके लिए उपयुक्त होते हैं। इस बीच हमें निरन्तर उसका मनन करते रहना चाहिए और इस बात की जांच करते रहना चाहिए कि हमारी प्रथम धारणा उचित है अथवा उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हम अपने विचारों को, अपनी रुचियों और अरुचियों को उस पर न लादें। यदि हम उसे वेनब्राउ की महाकार आवृत्ति दें और वह कहे, 'मैं वेनब्राउ नहीं पसन्द करता, वह बड़ा भयानक है' तो अच्छा यह होगा कि हम उस बात को वहीं समाप्त कर दें। उसे तूल न दें, उस पर विवाद न करें; और आगे की आधारिका की ओर बढ़ जाएं। उस सम्बन्ध में वाद विवाद करने से, युक्तिवाद लड़ाने से कोई लाभ न होगा।

वाले इन उपदेशों की उपेक्षा करने से प्रथम सूत्र की कितनी भयानक हानि होती है। जो ग्रन्थालयी प्रभूत संख्या के कर्तृगणों का अध्यक्ष होता है और जिसे उनसे काम लेना पड़ता है उस ग्रन्थालयी को जीवन में ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब कि उसे अपने बन्धुकर्तृगणों को ये उपदेश देने पड़ते हैं। यदि कोई इस बात में सन्देह कर कहे कि इस प्रकार के अनुभवी ग्रन्थालयी का साक्ष्य स्वार्थप्रेरित ही हो सकता है तो हम 'महाराजाधिराज (हिज़ मेजेस्टी) की आज्ञानुसार बोर्ड ऑफ एजुकेशन के प्रेसिडेन्ट द्वारा १९२७ में पार्लियामेन्ट में उपस्थापित' विवरण (रिपोर्ट) के निम्नलिखित प्रबल शब्दों को प्रस्तुत करते हैं। वे शब्द जान बूझ कर उसमें समाविष्ट किए गए थे। "सहायता करने की सदिच्छा, मूर्खता के प्रतिपक्ष में भी धैर्यरक्षा, उत्तेजना के कारणों के अस्तित्व में भी चित्तवृत्ति का नियन्त्रण ये सब गुण ग्रन्थालय के प्रत्येक सहायक तथा उपचारक में संपादित किए जाने चाहिएं। यह तो हुई अवर कोटि के कर्तृगणों की बात। उच्च कोटि के कर्तृगण के लिए तो मानवस्वभाव का विशद अध्ययन आवश्यक माना जाना चाहिए। वह अध्ययन भी इतना उच्च कोटि का हो कि उसे मानस शास्त्र की विशिष्ट शाखा का आदर और गौरव दिया जा सके। ग्रन्थालय प्रबन्ध में मानव अवयव इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि ग्रन्थालयित्व के विद्यालयों को तथा शिक्षण के पाठ्यक्रमों को ऐसा आदेश दिया जाए जिससे वे इस विषय पर सच्ची संमति देने की ओर भी थोड़ा बहुत ध्यान दें।"[1]

ग्रन्थालय कर्तृगण एवं वैयक्तिक सेवा

मानव स्वभाव को समझने की तथा दुराराध्य पाठकों के आराधन करने की प्रसन्नता को ग्रन्थालयित्व का आरम्भ और अन्त न समझना चाहिए। ग्रन्थालय ग्रन्थों का एक संग्रह है, जहां 'ग्रन्थ अध्ययनार्थ' रखे जाते हैं। अतः अध्येता और ग्रन्थ का संयोजन ही ग्रन्थालयित्व सिद्ध होता है। फलतः जन-वर्ग की की जाने वाली वैयक्तिक सेवा ही ग्रन्थालय का प्राण है। कुछ भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि जो ग्रन्थालय "ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस तत्त्व में विश्वास रखते हैं, वहां तो यही विचार धारा प्रवाहित होती रहती है। ग्रन्थालय शास्त्र का यह प्रथम सूत्र बड़ा कठोर स्वामी है। एक बार

[1] रिपोर्ट ऑन पब्लिक लायब्रेरीज़ इन इंगलेण्ड एण्ड वेल्स. पृ. ८८.

हमने इसको मान लिया कि फिर यह नहीं कहा जा सकता कि वह हमें कहां तक घसीट ले जाएगा। वह हमसे एक के पश्चात् एक अर्थापत्तियों को मनवाता ही चला जाएगा। हम उसके पाश से छूट नहीं सकते। उदाहरणार्थ, वह यह कहेगा कि यदि 'ग्रन्थालय में ग्रन्थ अध्ययनार्थ रखे जाते हैं' तो ग्रन्थालयी का यह कर्तव्य नहीं कि ग्रन्थों का ढेर लगा दे और पाठकों से कह दे कि वे अपनी सहायता आप कर लें। और यह भी नहीं है कि हम अपनी पसंदगी के ग्रन्थ उन पर बलात् लाद दें। ग्रन्थालयी का कर्तव्य यह होता है कि पाठकों की सहायता करे। सहायता का अर्थ यह होता है कि जिसकी सहायता की जा रही हो उसे अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में तथा अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने में सहयोग दिया जाए। उसे अपनी सहायता करने में सहायता दी जाए। यदि ग्रन्थालय कर्तृगण प्रथम सूत्र को उसकी महालक्ष्य सिद्धि में सहायता देना चाहते हैं तो उन्हें पाठकों की उसी प्रकार की वैयक्तिक सेवा करनी होगी। प्रथम सूत्र ग्रन्थालय कर्तृगण से यही चाहता है। यह एक महान् ध्यान देने योग्य विषय है कि इस प्रकार की वैयक्तिक सेवा के लिए दिनों दिन अधिक मांग बढ़ती जा रही है। पृथक् पृथक् व्यक्ति इसी प्रकार की वैयक्तिक सेवा की मांग उपस्थित करने लग रहे हैं। इस प्रकार की प्रार्थनाओं के उत्तर में व्यक्तिगत आवश्यकताओं के पूर्ण करने के हेतु ध्यान पूर्वक चुने हुए तथा चातुर्यपूर्ण उचित मार्ग दर्शन संयुक्त ग्रन्थ प्रस्तुत किए जाने चाहिएं। कोई पाठक जीवनसम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाना चाहते हैं। कुछ लोग अपने विद्यालयीय परंपरागत शिक्षण को समृद्धतर बनाना चाहते हैं। और दूसरे लोग ऐसे भी होते हैं जो उसी ज्ञान को बढ़ाने के लिए ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में प्रवेश करना चाहते हैं। अन्य लोग ऐसे होते हैं जो विशिष्ट प्रकार के स्वीकृततत्त्वों का संग्रह करना चाहते हैं। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं हैं जो केवल शुद्ध अध्ययन प्रमोद के लिए ही अध्ययन करना चाहते हैं। इस प्रकार की विभिन्न व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ग्रन्थालयी उसी प्रकार की समर्थता के साथ पूर्ण करें। इस प्रकार की वैयक्तिक सेवा करने के लिए ग्रन्थालय कर्तृगण का ज्ञान तथा अनुभव ऐसा होना चाहिए कि योग्यता, शिक्षा तथा उद्देश्य में महान् वैषम्य रखने वाले विभिन्न स्त्री पुरुषों को उस एक ही विषय पर योग्यतम विवेक के साथ उनके अनुरूप ग्रन्थों का संमतिदान कर सकें। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्ति रिलेटिविटी (सापेक्षवाद) के सम्बन्ध में अध्ययन करना चाहता

है। और उस विषय पर कोड़ियों ग्रन्थ पाए जाते हैं। क्या यह संभव है कि उनमें से प्रत्येक और सब ग्रन्थ हर एक और समस्त पाठकों के लिए समुचित हों? लॉज का 'रिलेटिविटी', ड्यूरेल का 'रीडेबल रिलेटिविटी', हाल्डेन का 'रेन ऑफ रिलेटिविटी', आइनस्टाइन का 'मीनिंग ऑफ रिलेटिविटी,' रसेल का 'ए. बी. सी. ऑफ रिलेटिविटी', ह्वाइटहेड का 'प्रिन्सिपल्स ऑफ रिलेटिविटी', एडिन्गटन का 'मेथमेटिकल थियरी ऑफ रिलेटिविटी' और बर्कहॉफ का 'ओरिजिन, नेचर एण्ड इन्फ्लुएन्स ऑफ रिलेटिविटी' ये सब क्या समान रूप से सबको रुचिकर प्रतीत हो सकेंगे? कदापि नहीं। उनमें से कोई एक ग्रन्थ किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए सर्वथा तुच्छ प्रतीत होगा, तो वही ग्रन्थ किसी अन्य व्यक्ति के लिए 'अद्वितीय' होगा, कारण केवल उसी ग्रन्थ के द्वारा वह 'रिलेटिविटी' को समझने में समर्थ हो सकता है। अन्य कोई भी ग्रन्थ उसकी उद्देश्यपूर्ति नहीं कर सकता। कोई अन्य ग्रन्थ अत्यन्त गहन हो सकता है, किन्तु संभव है उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य ही किसी विशिष्ट व्यक्ति को रोचक प्रतीत हो। कदाचित् तीसरा ग्रन्थ सर्वथा 'गूढ' हो, किन्तु ऐसे भी लोग हैं जिन्हें गूढवाद में ही आनन्द आता है। संभव है किसी अन्य ग्रन्थ की वर्णन शैली सुतरां दुरूह हो और परिपक्वतम बुद्धिसम्पन्न ज्येष्ठ शास्त्रार्थी का भी युद्धाह्वान करती हो। किन्तु ये ही 'लोहे के चने' किसी दूसरे को बड़े प्यारे लगें, कारण वह तो खोज ही में था कि ऐसे कठोर 'लोहे के चने' चबाने को तो मिलें, जिससे वह अपनी शक्ति का परीक्षण कर सके। एक ओर तो मुद्रित सामग्रियों का महावन है, जिसमें रोज के आने जाने वाले लोगों की भी बुद्धि चक्कर खाने लगती है। दूसरी ओर पाठकों की रुचि तथा समर्थता के भेदप्रभेदों का महासमुद्र है। इन पर विजय पाना बड़ा ही कठिन है। ये ही वे कारण हैं जो उचित ग्रन्थ के उचित पाठक के साथ उचित क्षण में उचित रीति से संयोग के जनन के लिए ग्रन्थालयों में ग्रन्थालय कर्तृगण द्वारा वैयक्तिक सेवा सर्वथा अनिवार्य सिद्ध कर देते हैं।

इस सम्बन्ध में विलियम एस. बर्नेड ने बड़े सुन्दर विचार प्रकट किए हैं। वे कहते हैं:—भविष्य का ग्रन्थालय जातीय परीक्षण सेवा बन जाएगा। उसे और भी अधिक परमविशिष्टज्ञानसम्पन्न ऐसे कार्यकर्ताओं की आवश्यकता पड़ेगी जिन्हें महाविद्यालयीय अध्यापकों द्वारा अधिकृत अति-सङ्कुचित क्षेत्र के साहित्य सम्बन्धी परिचय पर पूर्ण अधिकार रखना होगा। इतना ही नहीं, उन्हें तो और भी विशिष्ट शक्ति रखनी होगी, जिसका महा-

विद्यालयीय अध्यापक में सर्वथा अभाव होता है। वह शक्ति यह है कि प्रार्थी के मानसिक शक्ति-सामर्थ्य को तथा दृष्टिकोण को शीघ्रतापूर्वक जान ले तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा उसकी वैयक्तिक आवश्यकता के प्रकार को समझ ले।[1]

वैयक्तिक सेवा के इस प्रस्तुत विषय में प्रथम सूत्र की मांगों को पूर्ण करने के लिए ग्रन्थालय कर्तृगण को यहां तक सज्ज रहना चाहिए कि जब कभी आवश्यकता पड़े तब विशेषज्ञों और सुनिपुणों के पास भी जा सकें। कारण बहुधा ऐसे पाठक आया करते हैं जो ज्ञान के जटिल विषयों में रस लेते हैं और उनका अध्ययन मनन करते हैं। ऐसे पाठकों को किस प्रकार के ग्रन्थों का सुझाव दिया जाए इस सम्बन्ध में अच्छी संमति उन्हीं विशेषज्ञों से मिल सकती है। उसके बिना काम नहीं चल सकता।

इन बातों के साथ ग्रन्थालय कर्तृगण में और भी कई गुण होने चाहिएं। वे ये हैं–व्यक्तित्व, पटुता, उत्साह तथा सद्भावना। वस्तुतः ग्रन्थालयी और पाठक का अन्योन्य सम्बन्ध अत्यन्त स्नेहपूर्ण तथा सुरुचिपूर्ण होना चाहिए। वह सम्बन्ध न तो प्रभुसंमित होता है, जिसमें एक ज्येष्ठ व्यक्ति कनिष्ठ व्यक्ति को उपदेश देता है कि उसे अमुक अमुक ग्रन्थ पढ़ने चाहिएं। और न वह गुरुसंमित ही होता है, जिसमें एक गुरु बालक को शिक्षा देता है। अपि तु वह सम्बन्ध सुहृद्-संमित होता है। ग्रन्थालयी और पाठक दोनों समानपदी—समानधर्मा हैं और वे ग्रन्थों के सम्बन्ध में जानकारी और दृष्टिकोण का विनिमय करते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जो कोई भी व्यक्ति ग्रन्थों के अध्ययनार्थ ग्रन्थालय में आए उसके लिए ग्रन्थालयी 'मित्र, दार्शनिक तथा दर्शक' होना चाहिए। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बहुत ठीक कहा है कि इसी प्रकार की सहानुभूतिपूर्ण वैयक्तिक सेवा तथा "इसी प्रकार की आतिथ्य भावना उपादान कारण हैं जो ग्रन्थालय को महान् बनाते हैं; उसका आकार नगण्य है"।[2]

ग्रन्थालय कर्तृगण तथा समाज सेवा

"ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं" इस तत्त्व की न्यायसंगत अर्थापत्ति यदि

---

[1] एडल्ट एजुकेशन एण्ड दि लायब्रेरी. संपु. ४. पृ. १६.

[2] लायब्रेरी मूवमेन्ट : ए कलेक्शन ऑफ एसेज़ बाइ डाइवर्स हेन्ड्स, मद्रास लायब्रेरी असोसिएशन द्वारा प्रकाशित. पृ. २.

उपर्युक्त प्रकार की, उच्चकोटिक, निःस्वार्थ, वैयक्तिक सेवा मानी जाएँ तो इसे मानने में कोई भी कठिनाई न होगी कि कुछ ही विशिष्ट व्यक्ति सफल ग्रन्थालयी बनने में समर्थ हो सकते हैं। जिन व्यक्तियों में समाज सेवा के लिए अदम्य आन्तरिक उत्साह होगा वे ही प्रथम सूत्र द्वारा निर्धारित उच्च मानतुला को प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें ही सच्ची सफलता प्राप्त हो सकती है। यह तो स्पष्ट ही है कि न तो शुष्क विद्वत्ता, न व्यावसायिक दीक्षा और न उच्च वेतन—इनमें से एक भी अथवा सब मिलकर भी स्वतन्त्र रूप से सफल ग्रन्थालयी नहीं उत्पन्न कर सकते। शुद्ध विद्वत्ता का परिणाम सहानुभूतिशून्य पार्थक्य-भाव हो सकता है; व्यावसायिक दीक्षा गर्वपूर्ण आत्मसन्तोष में परिणत हो सकती है और उच्च वेतन दूरावस्थिति को उत्पन्न कर सकता है। प्रथम सूत्र की सेवा के लिए उन सब को झुकाकर मिलाया जा सकता है। किन्तु उसके लिए बस एक ही अभिसन्धि है। वह है मनोवृत्ति—चाहे वह सहज हो अथवा उत्पादित। वह मनोवृत्ति ठीक उसी प्रकार की हो जिससे प्रेरित होकर हमारे सन्त तयुमनवर के श्रीमुख से आनन्दमय उद्गार निकल पड़े थे, जिसमें उन्होंने परमेश्वर से प्रार्थना की थी :

"यदि आप मुझे केवल अपने बन्धुओं की सेवा करने का सामर्थ्य-मात्र दे दें तो वह आनन्दावस्था स्वयं अपने आप आविर्भूत हो जाएगी।"

समाज सेवा द्वारा इस प्रकार आनन्द प्राप्ति की लालसा प्रत्येक ग्रन्थालयी के लिए तो आवश्यक है ही, किन्तु जो किसी भी समाज अथवा देश में ग्रन्थालय आन्दोलन का सूत्रपात करना चाहते हैं उनके लिए तो वह सर्वथा अनिवार्य ही है। एडवर्ड एडवर्ड्स १९ वीं शताब्दी में इंगलेण्ड के ग्रन्थालय आन्दोलन के अन्यतम अग्रणी थे। उन्होंने निम्नलिखित करुण शब्दों में अग्रणी ग्रन्थालयी के भाग्य में लिखे हुए विघ्नबाधासमूह तथा पारितोषिकगण का परिगणन किया है। उनके इन शब्दों द्वारा जगत् के इस भाग में—हमारे देश में—काम करने वाले आज के ग्रन्थालय कर्तृगण को बड़ी भारी सान्त्वना तथा प्रोत्साहन मिलेंगे। वे शब्द ये हैं:—

"वह चाहे कितना ही काम करे, उसका उचित मूल्याङ्कन न किया जाएगा। प्रत्युत उसे हतोत्साह किया जाएगा। तथापि उसे सन्तोष और सुख ही मानना पड़ेगा।...परिश्रम तो करना ही है, किन्तु वह ऐसे व्यक्तियों की देख रेख में करना है जो न तो उसकी कठिनाइयों को समझते हैं और न उसके परिणामों का ही मूल्याङ्कन कर सकते हैं। इस अवस्था में किया जाने

वाला परिश्रम, उत्साह और लगन के साथ नहीं किया जा सकता। उसमें अन्यमनस्कता और रुकावट अवश्य ही आ जाएंगी। सच्चे कर्म का यथार्थ फल प्रशंसा नहीं है, इस सत्य को निरन्तर चित्त में रखना बड़ा ही कठिन हो जाता है। जो प्रवृत्ति तात्कालिक पारितोषिकों से अथवा उनके अभाव से बहुत अधिक प्रभावित होती है, वह या तो स्वयं गुणहीन होगी अथवा सर्वथा गुणहीन रीति से, अनुगत की जाती होगी।" "किन्तु स्थिर तथा प्रसादपूर्ण अध्यवसाय के लिए पर्याप्त अवसर मिल सकता है। ग्रन्थालय की उपयोगिता बढ़ाने के लिए, सर्वश्रेष्ठ विचारकों के सर्वश्रेष्ठ विचारों को विश्व में चारों ओर व्याप्त कराने के लिए—जितने भी पदक्रम लिए जाएंगे उनमें से प्रत्येक सफलता के शिखर की ओर हमें आगे बढ़ाएगा। समाज में बहुत बुराइयां फैली हुई हैं। उन्हीं की यह देन है कि सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं को या तो चालाक धनलोलुपों ने अपनी मुट्ठी में कर रखा है अथवा तो कोलाहली प्रवक्ताओं ने उन पर अपना वर्चस्व जमा रखा है। ग्रन्थालय की उपयोगिता बढ़ाने के लिए उठाया जाने वाला प्रत्येक कदम इन सामाजिक बुराइयों के और अधिक निम्नतर स्तर में सुरंग लगाने में समर्थ होता है"।[1]

किन्तु हमारी तो यह धारणा है कि न तो सुरंग के उस गल्प की सहायता लेने की आवश्यकता है और न फल की आशा करने की। अब वह फल चाहे कितना ही दूरस्थ क्यों न हो। प्रथम सूत्र तो यह कहता है, "तुम हमारे 'ग्रन्थ अध्ययनार्थ हैं' इन शब्दों में अपनी प्रसन्न मुद्रा तथा अध्यवसाय को आरोपित करो। उन्हीं पर तुम भरोसा रखो। तुम्हारा यही धर्म है कि ग्रन्थों से सेवा की जाए। सेवा ही तुम्हारा अधिकार क्षेत्र है। फल से तुम्हें कोई सम्बन्ध नहीं। स्खलित मत हो। आगे बढ़ो। सत्य अथवा मिथ्या, दूरस्थ अथवा तात्कालिक--किसी भी प्रकार के फल से अपने को प्रभावित मत होने दो। ग्रन्थालयी के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के निम्नलिखित परममाननीय शब्द विशेष अर्थ रखते हैं :—

कर्म करने का ही तुम्हारा अधिकार है; फल पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। फल की आशा से कदापि कर्म न करो। साथ ही कर्म से मुंह भी न मोड़ो।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

भगवद्गीता, अध्याय २, श्लो. ४७.

[1] एडवर्ड्स (एडवर्ड) : मेमॉयर्स ऑफ् लायब्रेरीज़, संपु. ६, पृ. ६६-६७.

यो दद्यात् ज्ञानमज्ञानां कुर्याद् वा धर्मदर्शनम् ।
स कृत्स्नां पृथिवीं दद्यात् तेन तुल्यं न तद् भवेद् ॥

मनुः ।

अज्ञ जनों को ज्ञानवान् बनाना तथा कर्तव्य ज्ञान शून्य जनों को उनके कर्तव्य का पथप्रदर्शन करना समस्त पृथ्वी के दान की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है ।

निर्देशी

अधिकार की कलगियां १.६२
अधिकारी-प्राध्यापक, ग्रन्थालयी १.४१
अमेरिका, ग्रन्थालय दीक्षा १.५४
ग्रन्थालयों का देश १.२२
नवीन ग्रन्थालय १.२४
प्राचीन ग्रन्थालय १.२०, १.२२
ग्रन्थालयी १.१३
अल्पतम व्यय नियम देवी १.२७
आचार नीति नियम १.६
'इंडेक्सिंग' और सूचीकरण १.५१
उद्यान ग्रन्थालय, लिस्बन १.१७
एडवर्ड्स (एडवर्ड) १.५४
कॉह (टी. डब्ल्यू.) १.१३, १.२२, १.३६
कीपर १.३७
कुक (केप्टेन) १.६३
केनन्स (एच्. जी. टी.) १.३६
कौशल्येय १.६२
क्विन्सी (जे..पी.) १.१४
गति सम्बन्धी सूत्र १.६
ग्रन्थ पेटियां १.१४
फलक अन्तर्भाग १.२७, १.२६
उच्चता १.२७, १.२८
मुक्ति १.१०
रक्षा, परंपरागत मनोवृत्ति १.१०
शृङ्खला बद्ध १.६
स्थापन रीति १.६
ग्रन्थालय और अन्य सुविधाएं १.३२
ग्रन्थ प्रयोजन १.४६
कर्तृगण १.२६

और उत्तरदायित्व १.६१
उपेक्षा-अशिष्टता १.६४
पाठक १.६३
मानस शास्त्र १.६६
विशिष्ट गुण १.६६
वैयक्तिक सेवा १.७०
व्यावसायिक दीक्षा १.४६
समाज सेवा १.७३
संस्थिति १.५५
कार्य काल १.२१
मिथ्याधारणा १.५०
दीक्षा और शिक्षा सम्बन्धी योजना १.४६
प्रणिचर १.२६
व्यवसाय, वट वृक्ष से तुलित १.५४
सेवा और दूरवर्ती लाभ १.५८
स्थान निर्धारण १.१४
अजायबघर १.३७
आंखमिचौनी का स्थान १.२०
कारखाना १.३३
दुकान १.६४
बौद्धिक व्यापार केन्द्र १.२१
विद्यालय अन्तरात्मा १.४४
ग्रन्थालयित्व १.३६, १.३७
और अन्य प्राचीन व्यवसाय १.५३
उत्तरदायित्व १.६१ १.५२
ग्रन्थालयी और ग्रन्थ ज्ञान १.४५
ग्रन्थालय उद्देश्य १.६२
विद्वत्ता १.४७
वेतन १.५५, १.५८
का चुनाव और व्यावसायिक दीक्षा १.५३
पद और वेतन १.५८

की उपेक्षावृत्ति १.६९
'मित्र, दार्शनिक और दर्शक' १.७३
अग्रणी, और विघ्न-बाधाएं १.७४
आकर्षण केन्द्र १.६९
ग्रन्थचोर १.४२
द्वारपाल १.४६
नवशिक्षित किशोर १.४२
'मोहम्मद ऑफ गजनी' १.४३
रसोइया १.५०
वर्तमान १.१३
ग्रन्थालयीय त्रिमूर्ति १.५७
ग्रन्थोपयोग और संस्थापन व्यय १.२५
सुविधा, क्रमिक विकास १.१३
ग्रान्ट (एलेक्जेण्डर) १.२२, १.३८
ग्रीक सरस्वती १.२२
ग्रेट ब्रिटेन, पब्लिक लायब्रेरीज़ कमेटी १.२६
बोर्ड ऑफ एजुकेशन, प्रेसिडेन्ट रिपोर्ट १.६९
चतुर्वेदविन्न्याय १.५०
ट्रेगस नदी १.१७
ठाकुर (रवीन्द्र नाथ) १.७३
डेनियल १.२३
तयुमनवर (सन्त) १.७४
पाठक और शर्मीलापन १.६८
परीक्षण १.६८
प्रकार १.६९
फलक प्रवेश १.२९
वैयक्तिक आवश्यकताएं और सेवा १.७१
पूल (विलियम फ्रेडरिक) १.७९
पेटिसन (मार्क) १ ४८
पेसी (फ्रेंक) १.४५
प्रथम सूत्र और दरिद्र वेतन १.५६
प्रथम सूत्र, पाखण्डमात्र १.२३

LIBRARY 20 OCT 19

प्राइस (जॉन)	१.६३
प्लेटो	१.३७
फ्री युनिवर्सिटी	१.१७
बॉडलियन ग्रन्थालय, ऑक्सफोर्ड	१.२१
बिरल (ऑगस्टाइन)	१.४६
भगवद्गीता, कर्मयोग	१.७५
भर्तृहरि	१.५६
भारत और ग्रन्थालय दीक्षा	१.५४
प्राचीन ग्रन्थालयी	१.११
मध्यकालीन, और ग्रन्थालय मानतुलाएं	१.५८ टिप्पणी
भारतीय महाविद्यालय और ग्रन्थालय दुर्दशा	१.४१, १.४२
मानव समाज और वित्त	१.५६
मुख्याध्यापक, भयास्पद	१.१६
मुद्रण कला आविष्कार	१.१०
युनिवर्सिटी कॉलेज लन्दन और ग्रन्थालयित्व	१.३८
ग्रन्थालय कार्य काल	१.२६
'रिपब्लिक'	१.३७
रिलेटिविटी (सापेक्षवाद)	१.७२
लघुतम स्थान नियम देवी	१.२७
लर्नेड (विलियम एस्.)	१.७२
लिखित ग्रन्थ दुर्लभता	१.१०
लिटन (लॉर्ड)	१.३३
लिन्डसे (ए. डी.)	१.३७
लिस्बन और प्रथम सूत्र	१.१७
विदेशों के ग्रन्थालय, नवीन	१.१६
प्राचीन	१.२४
व्यावसायिक शिक्षा दीक्षा का भूत	१.५१
सफलता की कुञ्जियां	१.६७
समाज सेवी दार्शनिक	१.१२
सुग्रीव	१.६१
सौमित्रि	१.६२
	१२०, १.४०